साधन तत्व

प्रकाशक

मानव सेवा संघ

वृन्दावन, मथुरा

साधन-तत्त्व

मानव सेवा संघ के प्रवर्तक सन्त ब्रह्मलीन पूज्यपाद
स्वामी शरणानन्द जी महाराज के साधन
सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण
विचार

प्रकाशक:
मानव सेवा संघ, वृन्दावन (मथुरा) 281 121

प्रकाशक:

मानव सेवा संघ, वृन्दावन -२८१ १२१

सर्वाधिकार सुरक्षित

चतुर्थ संस्करण : ४००० प्रतियाँ

सितम्बर-१९९६

मूल्य: Rs 10 00

मुद्रक :

राष्ट्रीय प्रेस,

चौकी बाग बहादुर, मथुरा

फोन-406812

प्राक्कथन

'साधन-तत्त्व' में पूज्य स्वामी जी ने साधकों के हितार्थ साधन-तत्त्व, साधन और साध्य पर अनोखा प्रकाश डाला है। जो साधक अपने विवेक के प्रकाश में साधन-पथ पर अग्रसर होना चाहते हैं उन्हें इस रचना से निस्सन्देह विशेष पथ-प्रदर्शन मिलेगा। इसके साथ-साथ उनकी दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याएँ भी आप सुलझती जाएँगी; कारण कि साधन में यह विशेषता है कि ज्यों-ज्यों साधक साधन-पथ पर कदम बढ़ाता है त्यों-त्यों उससे आगे का रास्ता स्वयं प्रकाशित होता जाता है।

आज का मानव हर बात को, चाहे वह ऊँचे से ऊँचा प्रमाण क्यों न हो, बुद्धि की पैनी से पैनी कसौटी पर कसने को अग्रसर रहता है। सम्भवतः वर्तमान युग की इसी माँग की पूर्ति के लिए इन संत द्वारा हमें एक अनोखी विचारधारा मिल रही है, जो जीवन के प्रत्येक अंग को लेकर दिव्य जीवन की रूपरेखा का संकेत करती है। पूज्य स्वामी जी की रचनाओं से जो भी परिचित हैं, वे यह भली-भाँति जानते हैं कि वे किसी विशेष मत, वाद, धर्म, सम्प्रदाय, देश, जाति अथवा काल पर निर्धारित न होते हुए मानव-मात्र की माँग का प्रत्युत्तर हैं।

विशेष परिचय पुस्तक स्वयं देगी। पुस्तक का एक-एक शब्द साधक के लिए मूल्यवान् है। कुछ बिखरे हुए मोती पुस्तक से ही उद्धृत किये जाते हैं :—

"साधन-तत्त्व क्या है? अपने साध्य में अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता ही साधन-तत्त्व है। साधन-तत्त्व साधक का जीवन और साध्य का स्वभाव है,.....साधन-तत्त्व और साध्य में नित्य मिलन और नित्य वियोग है। इसी कारण साधन-तत्त्व से साध्य को रस मिलता है,....प्रियता ही रस की जननी है.... रस का आदान-प्रदान रसरूप ही है।"

मदनमोहन वर्मा
चेयरमैन
राजस्थान पब्लिक सर्विस कमीशन

जयपुर
१ जुलाई सन्१९५८

विषय-सूची

१.	साधक कौन है ?	6
२.	साधन-तत्त्व क्या है ?	6
३.	साध्य क्या है ?	7
४.	क्या सभी साधकों का साध्य एक ही है ?	7
५.	साधन-तत्त्व से अभिन्न होने के उपाय क्या हैं ?	10
६.	साधन और साधन-तत्त्व में क्या भेद है ?	13
७.	साधन की आवश्यकता क्यों है ?	15
८.	साधन में विघ्न क्या हैं ?	16
९.	साधक को साधन में स्वाभाविक प्रियता क्यों नहीं होती ?	30
१०.	जब सभी का साध्य एक है तो साधन अनेक क्यों हैं ?	31
११.	साधक को अपने साधन का ज्ञान कैसे हो ?	33
१२.	साधक होने का अधिकारी कौन है ?	35
१३.	साधन में शिथिलता क्यों आती है ?	38
१४.	साधन में अस्वाभाविकता क्यों प्रतीत होती है ?	40
१५.	साधन का आरम्भ कैसे हो ?	43
१६.	साधन की लालसा	45
१७.	साधन का महत्त्व	47
१८.	असाधन का त्याग	49
१९.	दर्शन और साधन	52
२०.	जीवन और साधन	56
२१.	विश्वास और साधन	59
२२.	साधन-विधि	63
२३.	साधन-क्रम	68
२४.	साधन और असाधन	71
२५.	साधन और सत्संग	75
२६.	सत्संग की आवश्यकता	88
२७.	अहम् का नाश तथा साधन-तत्त्व	90

साधन-तत्त्व

प्राकृतिक नियमानुसार मानव-मात्र साधक है और प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है। निज विवेक के प्रकाश में जाने हुए असाधन का त्याग ही साधन का आरम्भ है। विवेक-विरोधी प्रवृत्ति और विवेक-विरोधी मान्यता ही असाधन है। विवेक-विरोधी प्रवृत्तियों का त्याग कर्त्तव्यपरायणता को जन्म देता है। विवेक-विरोधी मान्यताओं के त्याग में जिज्ञासा की जागृति निहित है। कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान राग को खा लेती है। जिज्ञासा की जागृति कामनाओं का अंत करने में समर्थ है। कामनाओं के अंत में ही जिज्ञासा की पूर्ति स्वतःसिद्ध है। जिज्ञासा की पूर्ति में ही वास्तविकता का बोध निहित है। वास्तविकता के बोध में ही वास्तविक जीवन है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध वर्तमान परिस्थिति से ही है। जिसका सम्बन्ध वर्तमान परिस्थिति से है उसके पालन में असमर्थता की गंध भी नहीं है। कर्त्तव्यपालन में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। परिस्थिति-भेद से कर्त्तव्य में भेद होने पर भी फल में एकता ही है, अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग का परिणाम एक ही है। कर्त्तव्य की दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर अग्रसर करने में समर्थ है। अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय का अंत भी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही निहित है। परिस्थिति का दुरुपयोग व्यक्ति को परिस्थितियों की दासता में आबद्ध करता है। परिस्थितियों की दासता परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि उत्पन्न करती है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार करते ही बेचारा प्राणी दीनता तथा अभिमान में आबद्ध हो

जाता है। दीनता तथा अभिमान में आबद्ध प्राणी सुख की दासता तथा दुःख के भय से आक्रान्त हो जाता है।

(1) साधक कौन है ?

प्राकृतिक नियमानुसार मानव-मात्र साधक है, क्योंकि ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं जिसमें करने, जानने और मानने की रुचि न हो। प्रत्येक मानव कुछ-न-कुछ करना चाहता है, उसमें निस्सन्देहता की माँग भी विद्यमान है और उसका किसी-न-किसी में विश्वास भी है। जो कुछ भी करना चाहता है वह किसी-न-किसी विधान को स्वीकार अवश्य करता है। विधान के अनुरूप की हुई प्रवृत्ति ही कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य-परायणता से करने के राग की निवृत्ति और दूसरों के अधिकार की रक्षा स्वतः होती है। करने के राग का अंत होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी को यथेष्ठ विश्राम मिलता है, जिससे साधक कर्तृत्व के अभिमान से रहित हो जाता है। कर्तृत्व का अभिमान गलते ही साधक में स्वतः वास्तविकता की जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो समस्त भोग-वासनाओं का अन्त कर उसे निस्सन्देहता प्रदान करती है। सन्देह-रहित होते ही अनेक विश्वास एक विश्वास में विलीन हो जाते हैं और फिर साधक स्वतः साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक मानव साधक है; क्योंकि उसमें बीजरूप से साधन-तत्त्व विद्यमान है।

(2) साधन-तत्त्व क्या है ?

अपने साध्य में अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता ही साधन तत्त्व है। साधन-तत्त्व साधक का जीवन और साध्य का स्वभाव है। इस कारण प्रत्येक साधक साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर ही साध्य को रस प्रदान करने में समर्थ होता

है; क्योंकि प्रियता रस की जननी है। साध्य का रस ही साधक का रस है। इतना ही नहीं, रस का आदान-प्रदान रसरूप ही है।

(3) साध्य क्या है?

साध्य वही है जिससे देश-काल की दूरी न हो, अर्थात् जो सर्वत्र तथा सर्वदा है, वही साध्य है। किसी भी साधक का साध्य वह नहीं हो सकता जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो और उसे भी साध्य नहीं कह सकते जो उत्पत्ति-विनाशयुक्तहो। वह भी साध्य नहीं हो सकता है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता न हो। साध्य वर्तमान जीवन की वस्तु है। उसके लिए भविष्य की आशा प्रमाद है; क्योंकि जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता स्वाभाविक है। जिससे नित्य सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है उसकी विस्मृति भले ही हो जाय; किन्तु उससे दूरी तथा भेद नहीं हो सकता। जिससे दूरी तथा भेद हो ही नहीं सकता उससे निराश होना, उसकी प्राप्ति में अपने को अनधिकारी मानना और उससे आत्मीयता स्वीकार न करना-साधक की अपनी ही असावधानी है, और कुछ नहीं। अतः साध्य वही है जिसकी प्राप्ति में साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। साध्य को पाकर फिर कुछ और पाना शेष नहीं रहता; क्योंकि साध्य की प्राप्ति समस्त अभावों का अभाव कर साधक को वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देती है।

(4) क्या सभी साधकों का साध्य एक ही है ?

निस्सन्देह सभी साधकों का साध्य एक ही है, क्योंकि सभी की वास्तविक माँग एक है। साध्य में भिन्नता तभी तक प्रतीत होती है जब तक साधक विवेकपूर्वक अपनी वास्तविक

आवश्यकता को नहीं जानता, अपितु उसे अविवेक-सिद्ध कामनाओं से ढकता रहता है। यद्यपि वास्तविक आवश्यकता का नाश कभी नहीं होता, तथापि विवेक का अनादर बेचारे साधक को कामनाओं में आबद्ध कर वास्तविक आवश्यकता से विमुख कर देता है। यदि साधक प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन करे, तो उसे यह स्पष्ट विदित होगा कि कामनाओं की पूर्ति उसकी वास्तविक आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सभी कामनाओं की पूर्ति सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, प्रत्येक कामना की पूर्ति प्राणी को पराधीनता, जड़ता आदि दोषों में आबद्ध करती है और कामना-पूर्ति के सुख की दासता नवीन कामना को जन्म देती है। उसका परिणाम यह होता है कि अनेक बार कामना-पूर्ति होने पर भी कामना की उत्पत्ति का प्रवाह ज्यों-का-त्यों बना रहता है, अर्थात् कामना-पूर्ति का सुख बेचारे साधक को कामना- अपूर्ति के दुःख से मुक्त नहीं होने देता। सुख की दासता तथा दुःख का भय किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि कामना-पूर्ति साधक की वास्तविक आवश्यकता नहीं है। यह रहस्य जान लेने पर कामना-पूर्ति का महत्त्व मिट जाता है, जिसके मिटते ही कामना-पूर्ति-अपूर्ति से अतीत वास्तविक आवश्यकता की जागृति होती है, जो सभी साधकों में एक है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि सभी साधकों का साध्य एक ही है।

इतना ही नहीं, कामना-निवृत्ति की शान्ति में रमण करना भी साध्य नहीं है; क्योंकि शान्ति में रमण करने से सीमित अहम् भाव पुष्ट होता है, जो भेद की उत्पत्ति में मूल कारण है। भेद के रहते हुए निर्भयता, निश्चिन्तता, निर्वासना और अपरिच्छिन्नता सम्भव नहीं है और उसके बिना वास्तविक जीवन से अभिन्नता नहीं हो सकती । दुःख अभाव में, सुख

पराधीनता में और शान्ति परिच्छिन्नता में आबद्ध करती है। अतः सुख-दुःख तथा शान्ति का भोग साध्य नहीं हो सकता। यद्यपि सुख-दुःख की अपेक्षा शान्ति बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, परन्तु सीमित अहम् भाव का अन्त करने के लिए साधक को शान्ति से भी असंग होना पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि शान्ति का सम्पादन नहीं करना है। कामना-पूर्ति का जब महत्त्व नहीं रहता तब आवश्यक कामनाओं की पूर्ति के अंत में अपने आप कामना-निवृत्ति की शान्ति आती है। शान्ति सामर्थ्य की प्रतीक और स्वाधीनता की जननी है। यदि आयी हुई शान्ति में रमण किया जाय तो संचित सामर्थ्य का व्यय कामना-पूर्ति में होने लगता है और फिर बेचारा प्राणी पूर्व की भाँति कामना-उत्पत्ति और पूर्ति के दुःख-सुख में आबद्ध होने लगता है, अथवा यों कहो कि दुःख-सुख का एक गोल चक्र बन जाता है और बेचारा प्राणी उसी में घूमता रहता है, जिससे अपनी वास्तविक आवश्यकता को नहीं जान पाता, जिसके बिना जाने वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि को ही साध्य मान बैठता है, जो वास्तव में प्रमाद है।

जिससे नित्य सम्बन्ध तथा जातीय एवं स्वरूप की एकता नहीं हो सकती वह साध्य नहीं हो सकता। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि संकल्प-उत्पत्ति के दुःख तथा पूर्ति के सुख एवं संकल्प-निवृत्ति की शान्ति के रमण से अतीत जो वास्तविक जीवन है वही सभी का साध्य है। उसे किसी वस्तु, अवस्था, एवं परिस्थिति में आबद्ध होकर प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो साध्य सभी वस्तु, अवस्था आदि से अतीत है वह एक ही है। अतएव साधक अनेक और साध्य सभी का एक है।

(5) साधन-तत्त्व से अभिन्न होने के उपाय क्या हैं ?

साधन-तत्त्व से अभिन्न होने के अनेक उपाय हैं। यद्यपि प्रत्येक साधक में बीचरूप से साधन-तत्त्व विद्यमान है, परन्तु उस विद्यमान साधन-तत्त्व को विकसित करने के लिए प्रत्येक साधक को अपने जाने हुए असाधन का त्याग कर उस साधन का निर्माण करना होगा जो उसे साधन-तत्त्व से अभिन्न करने में समर्थ है। प्रत्येक साधक का अपना जाना हुआ असाधन अलग-अलग है। इसी कारण सर्वांश में दो साधकों की साधना भी एक नहीं हो सकती, क्योंकि साधन का आरम्भ साधक में से ही होता है। जब सर्वांश में दो साधकों की भी वर्तमान वस्तुस्थिति एक नहीं है तब सभी साधकों का आरम्भिक साधन एक कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

अपने असाधन का ज्ञान प्रत्येक साधक को है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो साधन करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता। साधन करने की बात साधक में तभी आती है जब वह अपनी जानी हुई असाधनयुक्त वस्तुस्थिति से व्यथित होता है। असाधन-जनित वेदना साधक को असाधन-जनित सुख-लोलुपता की दासता से मुक्त कर देती है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने जाने हुए असाधन के त्याग करने में समर्थ होता है। साधक के जीवन में असाधन उसी समय तक जीवित रहता है जब तक साधक असाधन-जनित सुख-लोलुपता का भोग करता है। असाधन का आरम्भ सुखद प्रतीत होता है और परिणाम बड़ा ही भयंकर दुःखद सिद्ध होता है। सुखद प्रतीति, सुख के प्रलोभन में आबद्ध कर बेचारे प्राणी को साधननिष्ठ नहीं होने देती। अतः अपने जाने हुए असाधन का त्याग अनिवार्य है। जाने

हुए असाधन का त्याग करते ही साधक की योग्यता, रुचि, सामर्थ्य एवं परिस्थिति के अनुसार साधन का निर्माण अपने आप हो जाता है। इस दृष्टि से असाधन का त्याग ही साधन-निर्माण की भूमि है। अतः प्रत्येक साधक को अपने-अपने जाने हुए असाधन का त्याग कर वर्तमान ही में साधन-निर्माण करना है।

समस्त साधन दो भागों में विभाजित हैं :-एक निषेधात्मक, दूसरा विध्यात्मक।

निषेधात्मक साधन सभी साधकों के लिए समान है, क्योंकि असाधन का त्याग ही निषेधात्मक साधना है। असाधन के त्याग के बिना विध्यात्मक साधना, जो प्रत्येक साधक की अलग-अलग होती है, सिद्ध हो ही नहीं सकती। विध्यात्मक साधना की सिद्धि के लिए निषेधात्मक साधना को अपना लेना अनिवार्य है। निषेधात्मक साधना ही सभी साधकों में स्नेह की एकता सुरक्षित रखती है, अर्थात् विध्यात्मक साधना अलग-अलग होने पर भी साधक होने के नाते परस्पर में एकता बनी रहती है। यदि निषेधात्मक साधना को न अपनाया तो असाधन का त्याग सम्भव न होगा और उसके बिना विध्यात्मक साधना सजीव न होगी। कोई साधक निषेधात्मक साधना को बिना अपनाए विध्यात्मक साधना आग्रहपूर्वक यन्त्रवत् भले ही करता रहे, किन्तु साधक की साधन में स्वाभाविक प्रियता न होगी और उसके बिना साधन में स्वाभाविकता नहीं आएगी। स्वाभाविकता के बिना साधन निरन्तर नहीं हो सकता। जो निरन्तर नहीं हो सकता वह साधन जीवन नहीं बन सकता। जो साधन जीवन नहीं बन सकता उस साधन का आरम्भ और अन्त होता रहेगा। ऐसा साधन कालान्तर में भले ही

फलित हो, पर उससे वर्तमान में सिद्धि नहीं हो सकती। अतः विध्यात्मक साधना को सजीव बनाने के लिए निषेधात्मक साधना को, जो सभी साधकों के लिए समान है, अपना लेना अनिवार्य है।

यद्यपि साधन-तत्त्व एक है, परन्तु उससे अभिन्न होने के लिए व्यक्तिगत साधन अनेक हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन अनेक साधनों में एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं है। सभी साधन किसी-न-किसी रूप में साधन-तत्त्व की ओर ही गतिशील होते हैं, परन्तु परिस्थिति-भेद से जो जीवन और साधन में भिन्नता प्रतीत होती है वह भिन्नता, जब साधक का जीवन साधन हो जाता है, तब अपने आप मिट जाती है और फिर अनेक साधन एक होकर साधन-तत्त्व से साधक को अभिन्न कर देते हैं। इस दृष्टि से साधन अनेक भी हैं और एक भी। प्रत्येक साधक की आन्तरिक प्रेरणा एक है ओर उसके बाह्य स्वरूप अनेक हैं। इस रहस्य को जान लेने पर साधन-भेद होने पर भी साधन-तत्त्व से अभिन्न होना सभी के लिए परम आवश्यक हो जाता है।

वही साधन साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न कर सकता है, जो साधन साधक को रुचिकर हो और जिसमें विकल्प-रहित विश्वास हो और साधक का विवेक उस साधन का विरोधी न हो, समर्थक हो अथवा न हो। साधन परिस्थिति के विपरीत न हो और उसको कार्यान्वित करने में साधक असमर्थ न हो, तथा उसके लिए किसी अप्राप्त वस्तु, सामर्थ्य,योग्यता की अपेक्षा न हो, अपितु प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यतापूर्वक ही साधन हो सके। वही साधन साधक का जीवन होकर साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न कर सकता है। जो साधन रुचिकर होता है और जिसमें अविश्वास नहीं होता उसमें साधक का मन लग जाता है। जो साधन विवेक-

विरोधी नहीं होता उसमें साधक की बुद्धि लग जाती है। जो साधन परिस्थिति के अनुसार होता है वह वर्तमान में किया जा सकता है। जिस साधन में मन-बुद्धि लग जाते हैं और जो वर्तमान में ही हो सकता है वह साधन साधक के लिए स्वाभाविक हो जाता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधक साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है।

(6) साधन और साधन-तत्त्व में क्या भेद है ?

समस्त साधन जिससे अभिन्न होते हैं वही साधन-तत्त्व है। साधन अनेक हैं और साधन-तत्त्व एक है। साधकों की योग्यता, रुचि तथा परिस्थिति-भेद से व्यक्तिगत साधन अलग-अलग हैं; किन्तु ज्यों-ज्यों साधक अपने जाने हुए असाधन का त्याग करते जाते हैं, त्यों-त्यों साधन साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न करने में समर्थ होते हैं। साधन और साधन-तत्त्व में केवल यही भेद है कि साधन साधन तत्त्व का वह भाग है जो क्रमशः साधक में से असाधन का नाश कर साधक के अस्तित्व को साधन से अभेद कर देता है, अर्थात् साधक और साधन में किसी प्रकार की दूरी तथा भेद नहीं रहता। तब केवल साधन-तत्त्व ही शेष रहता है, जो साध्य की अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता है, जिससे साध्य को रस की उपलब्धि होती है। साधन में एकदेशीयता होती है और साधन-तत्त्व में सर्वदेशीयता। साधन व्यक्तिगत है और साधन- तत्त्व समस्त साधकों का एक है। साधन-तत्त्व और साध्य में किसी प्रकार की दूरी नहीं रहती, क्योंकि साधन-तत्त्व में सत्ता साध्य की ही है, अथवा यों कहो कि साधन-तत्त्व साध्य का ही स्वभाव है। साधन-तत्त्व से अभिन्न होने पर ही साध्य की प्राप्ति होती है। इस कारण समस्त साधकों को, साधन होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न होना है। जब तक

साधक में आंशिक असाधन रहता है तब तक साधक का अस्तित्व गलकर साधन नहीं हो पाता और उसके हुए बिना साधन- तत्त्व से अभिन्नता नहीं होती। साधक और साधन में भेद तभी तक रहताहै जब तक किसी-न-किसी अंश में असाधन है। असाधन के रहते हुए साधन सद्‌गुणों के रूप में प्रतीत होता है। गुणों का अभिमान दोषों की भूमि है। अतः जब तक असाधन का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता तब तक साधन और साधन-तत्त्व में भेद रहता है। गुणों का अभिमान गलते ही अनेक साधन गल कर साधन-तत्त्व में विलीन हो जाते हैं और फिर साधन-तत्त्व साध्य को रस प्रदान कर कृतकृत्य होता है। साधन का आश्रय लेकर साधक का सीमित अहम् भाव जब तक जीवित है तब तक साधन और साधन-तत्त्व में भेद रहता है। जब साधक में अहम् नहीं रहता तब साधन साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है।

साधन की उत्पत्ति साधक में से होती है और साधन-तत्त्व अनन्त का स्वभाव है। साधन, साधक में से उत्पन्न होकर साधक को उसी प्रकार खा लेता है जिस प्रकार काष्ठ में से अग्नि उत्पन्न होकर काष्ठ को ही भस्म कर देती है। साधन-तत्त्व साध्य का स्वभाव होने से साध्य के समान ही अनन्त है। साधन-तत्त्व और साध्य में नित्य मिलन और नित्य वियोग है। इसी कारण साधन-तत्त्व से साध्य को रस मिलता है। यद्यपि साधन-तत्त्व साध्य की ही अभिव्यक्ति है, तथापि साध्य को रस देने में साधन-तत्त्व ही समर्थ है; क्योंकि अपने में अपनी प्रियता ही अपने को रस देती है। अनन्त की प्रियता भी अनन्त ही है। प्रियता स्वभाव से ही क्षति, पूर्ति एवं निवृत्ति से रहित है। अनेक साधक एक साध्य से तभी अभिन्न होते हैं जब अनेक साधन एक साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाते हैं। साधन यदि लहर है तो

साधन-तत्त्व सागर है। बस, यही साधन और साधन-तत्त्व में अन्तर है।

(7) साधन की आवश्यकता क्यों है ?

असाधन का अन्त करने के लिए ही साधन की अपेक्षा है, कारण कि सर्वांश में असाधन किसी को भी अभीष्ट नहीं है। साधन के साथ-साथ ही असाधन जीवित रहता है। यदि सर्वांश में साधन निकाल दिया जाय तो केवल असाधन के आधार पर कोई भी मानव अधिक काल की कौन कहे,अल्प काल भी नहीं रह सकता। गुण के आश्रय ही दोष, भलाई के आश्रित ही बुराई, कर्त्तव्य के सहारे ही अकर्त्तव्य और सत्य के आश्रय से ही असत्य प्रकाशित होता है।

कोई भी दोष न तो सदैव रह सकता है और न सभी के प्रति हो सकता है, क्योंकि दोष की उत्पत्ति होती है। उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसी कारण दोषों की निवृत्ति का प्रश्न साधक के जीवन में है, क्योंकि निर्दोषता स्वभाव से ही सभी को प्रिय है। यदि ऐसा न होता तो अपने प्रति होने वाली बुराई किसी को भी अप्रिय, अरुचिकर तथा असह्य न होती। अपने प्रति सभी दूसरों से निर्दोष व्यवहार की ही आशा करते हैं। इस अनुभूति से क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता है कि सभी की स्वाभाविक माँग निर्दोष जीवन की ही है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साधननिष्ठ होकर अपने बनाए हुए दोषों का अन्त करना अनिवार्य है।

पराधीनता असाधन की प्रतीक है और स्वाधीनता साधन की। असाधन उससे सम्बन्ध जोड़ता है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और जो पर-प्रकाश्य है। साधन उससे सम्बन्ध जोड़ता है जो नित्य प्राप्त है और स्वयं-प्रकाश है। असाधन जड़ता में आबद्ध करता है और साधन दिव्य, चिन्मय

जीवन से अभिन्न करता है। असाधन का आरम्भ और अन्त होता है; किन्तु साधन का आरम्भ तो होता है, पर अन्त नहीं होता, क्योंकि साधन साध्य ही का स्वभाव है। असाधन प्राप्त सामर्थ्य का अपव्यय कर असमर्थता की ओर ले जाता है और साधन उत्तरोत्तर सामर्थ्यशाली बनाता है। साधन वर्तमान को सरस एवं भविष्य को उज्ज्वल बनाता है और असाधन व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध कर वर्तमान को नीरस बना देता है, जो ह्रास का मूल है। साधन भेद को अभेद में और भिन्नता को अभिन्नता में विलीन कर देता है और असाधन भेद तथा भिन्नता को पुष्ट करता है। साधन का आरम्भ निरभिमानता से और असाधन की उत्पत्ति अभिमान से होती है। अतः साधन-रहित जीवन पराधीनता, जड़ता, असमर्थता, विषमता, नीरसता, भिन्नता और अभिमान आदि दोषों में आबद्ध करता है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अतः वास्तविक जीवन की उपलब्धि के लिए सभी को साधननिष्ठ होना परम आवश्यक है, क्योंकि साधन-युक्त जीवन ही मानव-जीवन है।

(8) साधन में विघ्न क्या हैं ?

(1) साधन में अनेक विघ्न हैं। उन सभी का मूल कारण एक-मात्र अविवेक है। विवेक का आदर न करने से प्राणी व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध हो जाता है, जो समस्त अनर्थों का मूल है। व्यक्तित्व का मोह ही भेद तथा भिन्नता को जन्म देता है। भेद के रहते हुए कोई अभय नहीं हो सकता। भयभीत प्राणी साधननिष्ठ नहीं हो सकता, क्योंकि भय प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता आदि का सदुपयोग नहीं करने देता और भिन्नता द्वेष को उत्पन्न कर स्नेह की एकता को जाग्रत नहीं होने देती। स्नेह की एकता के बिना अकर्त्तव्य का अन्त नहीं हो सकता और उसके बिना कर्त्तव्यपरायणता नहीं आती।

कर्त्तव्यनिष्ठ हुए बिना न तो सुन्दर समाज का निर्माण ही होता है और न करने का राग ही नाश होता है। सुन्दर समाज का निर्माण हुए बिना परस्पर में विश्वास तथा स्नेह की एकता सुरक्षित नहीं रहती, जो संघर्ष का मूल है। कर्तृत्व का राग रहते हुए देहाभिमान गल नहीं सकता। उसके गले बिना निर्विकारता एवं निर्वासना तथा अमरत्व की उपलब्धि नहीं होती। इतना ही नहीं, देहाभिमान समस्त विकासों में बाधक है, क्योंकि देहाभिमान साधक को वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि में आबद्ध कर देता है। परिच्छिन्नता उसे अभिमान-रहित नहीं होने देती। निरभिमानता के बिना अवस्थातीत, असीम, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन में प्रवेश नहीं होता। इसी कारण ऊँची-से-ऊँची अवस्था में भी व्यक्तित्व का मोह बना रहता है, जिससे साधक अपने-पराए की कल्पना कर अपने को अन्य की अपेक्षा श्रेष्ठ बनाए रखने के लिए गुणों का सम्पादन कर उनका भोग करता है। गुणों का भोग समस्त दोषों की भूमि है, परन्तु व्यक्तित्व का मोह उसे गुणों के अभिमान से रहित नहीं होने देता, जिसके हुए बिना साधक का सीमित अहम्-भाव ज्यों-का-त्यों बना रहता है। अहम्-रूपी अणु के रहते हुए साधन-तत्त्व से अभिन्नता सम्भव नहीं है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि साधन-तत्त्व से अभिन्न होने के लिए व्यक्तित्व के मोह का अन्त करना अनिवार्य है।

(2) यद्यपि स्वाधीनता सभी को स्वाभाविक प्रिय है, परन्तु कामना-पूर्ति के प्रलोभन के कारण साधक पराधीनता को स्वाधीनता के समान ही महत्त्व देने लगता है। पराधीनता में महत्त्व-बुद्धि होना साधन में विघ्न है, क्योंकि पराधीनता जड़ता में आबद्ध करती है, जिससे बेचारा साधक दिव्य-चिन्मय जीवन से विमुख हो जाता है। यदि स्वाधीनता की उत्कट लालसा जाग्रत हो जाय तो कामना-पूर्ति का प्रलोभन अपने

आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही कामना-अपूर्ति का भय शेष नहीं रहता और फिर अपने आप कामना-निवृत्ति का महत्त्व बढ़ जाता है, जो पराधीनता को स्वाधीनता में विलीन कर देता है। कामना-पूर्ति-काल में साधक उन वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के अधीन हो जाता है जिनके द्वारा कामना की पूर्ति होती है। प्राकृतिक नियमानुसार कामना-पूर्ति के सुख का भोग नवीन कामना को जन्म देता है और फिर वही वस्तुस्थिति हो जाती है जो कामना-पूर्ति से पूर्व थी। इतना ही नहीं, कामना-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख का एक गोल चक्र बन जाता है, जिसमें बेचारा साधक अनन्त काल तक घूमता रहता है। जब तक पराधीनता में महत्त्व-बुद्धि रहती है तब तक सुख-दुःख से अतीत के जीवन की उत्कट लालसा जाग्रत नहीं होती, जिसके जाग्रत हुए बिना सुख-दुःख के सदुपयोग की योग्यता नहीं आती। सुख-दुःख का भोग असाधन और उनका सदुपयोग साधन है। सुख-दुःख का सदुपयोग वही साधक कर सकता है जो अपने संकल्प को विश्व के अथवा अनन्त के संकल्प में विलीन कर निःसंकल्प हो जाय। निःसंकल्पता सुरक्षित रखने के लिए संकल्प-पूर्ति, अर्थात् पराधीनता में जो महत्त्व-बुद्धि बन गई है उसका अन्त करना अनिवार्य होगा। संकल्प-पूर्ति-काल में पराधीनता में स्वाधीनता के समान सुख भासता है, परन्तु उसमें स्वाधीनता की गंध भी नहीं होती, क्योंकि संकल्प-पूर्ति में बाधा आते ही बेचारा साधक क्षोभित तथा क्रोधित हो जाता है और यदि संकल्प पूरा हो जाता है तो एक नवीन राग उत्पन्न हो जाता है। क्षोभ से अशान्ति और क्रोध से विस्मृति तथा राग से पराधीनता दृढ़ होती है। इस दृष्टि से पराधीनता को पराधीनता ही जानकर, संकल्प-पूर्ति में जो महत्त्व-बुद्धि बन गई है, उसका त्याग करना आवश्यक हो जाता है। संकल्प-अपूर्ति-काल में तो पराधीनता स्पष्ट ही विदित होती है,

किन्तु संकल्प-पूर्ति काल में भी पराधीनता ही रहती है। कामना- पूर्ति का प्रलोभन पराधीनता में महत्त्व-बुद्धि आरोपित कर बेचारे साधक को जड़ता में आबद्ध कर देता है। साधन-दृष्टि से कामना-पूर्ति-अपूर्ति की परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है, क्योंकि कामना-पूर्ति के बिना भोग की वास्तविकता का परिचय नहीं होता और कामना-अपूर्ति के बिना जीवन में जागृति नहीं आती। जिस भोग-वासना को साधक विवेकपूर्वक नाश नहीं कर पाता उसकी वास्तविकता जताने के लिए प्राकृतिक नियम के अनुसार कामना-पूर्ति की परिस्थिति आती है, किन्तु उसे जीवन मान लेना प्रमाद है। जिन कामनाओं की अनेक बार पूर्ति होने पर भी राग का नाश नहीं होता, अपितु व्यक्ति उत्तरोत्तर जड़ता में ही आबद्ध होता जाता है, उस जड़ता से जाग्रत करने के लिए मंगलमय विधान से कामना-अपूर्ति की परिस्थिति आती है। पर इस रहस्य को कोई बिरले साधक ही जान पाते हैं।

साधन-दृष्टि से कामना-पूर्ति-अपूर्ति समान अर्थ रखती हैं, क्योंकि दोनों ही परिस्थितियाँ राग-रहित करने में समर्थ हैं।

परन्तु यदि कामना-पूर्ति-अपूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार कर ली जाय, तब तो बेचारा साधक सुख-दुःख का सदुपयोग न करके उनका भोगी हो जाता है। सुख-दुःख का भोगी होना साधन में विघ्न है; क्योंकि सुख-दुःख के सदुपयोग से ही साधक साधन-तत्त्व से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को कामना-पूर्ति के प्रलोभन और कामना-अपूर्ति के भय से रहित होना अनिवार्य है।

(3) प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, और कुछ नहीं। अतएव परिस्थितियों के प्रतिकूल साधन का आग्रह साधन में विघ्न है। प्रत्येक परिस्थिति में साधन हो सकता है; क्योंकि ऐसी कोई परिस्थिति हो ही नहीं

सकती जिसके सदुपयोग से साधक साधननिष्ठ न हो जाय। परिस्थिति-परिवर्तन की बात वे ही साधक सोंचते हैं जो परिस्थिति के सदुपयोग के महत्त्व में विश्वास नहीं करते हैं, अपितु अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में ही रत रहते हैं। प्रत्येक परिस्थिति स्वरूप से ही अपूर्ण है। जो अपूर्ण है वह साध्य नहीं हो सकती। जो साध्य नहीं हो सकती उसे साधन-सामग्री ही मानना चाहिए। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, उसके सदुपयोग में ही साधन परायणता सिद्ध होती है। यह रहस्य वे ही जानते हैं जो साधन को वर्तमान की वस्तु मानते हैं। जो साधक साधन को भविष्य पर टालते रहते हैं वे कभी भी साधननिष्ठ नहीं हो पाते, क्योंकि साधन वर्तमान की वस्तु है, भूत और भविष्य की नहीं। वर्तमान के सुधर जाने से ही भविष्य उज्ज्वल बनता है और भूतकाल का दुष्परिणाम भी मिट जाता है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति में ही साधन-निर्माण हो सकता है। साधन उसे नहीं कहते, जिसके करने में साधक असमर्थ हो। साधन वही हो सकता है, जिसे साधक कर सके। साधक वही साधन कर सकता है, जो उसकी प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप हो। प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग करने में ही साधन निहित है।

(4) प्रत्येक परिस्थिति अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का समूह है। प्राकृतिक विधान के अनुसार कोई भी परिस्थिति सर्वांश में अनुकूल तथा प्रतिकूल नहीं है, अपितु प्रत्येक परिस्थिति में आंशिक अनुकूलता तथा प्रतिकूलता विद्यमान है। इतना ही नहीं, प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तन-शील है। ऐसी दशा में यदि साधक उदारतापूर्वक अनुकूलता का और त्यागपूर्वक प्रतिकूलता का सदुपयोग कर डाले तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय से मुक्त होकर परिस्थितियों से अतीत के

जीवन का अधिकारी हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति साधन-रूप ही है। अतः परिस्थिति के प्रतिकूल अथवा किसी अप्राप्त परिस्थिति के आश्रित साधन का आग्रह साधक का प्रमाद है। प्रत्येक साधक को यह भली-भाँति जान लेना चाहिये कि प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही अप्राप्त परिस्थिति की प्राप्ति और सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश हो सकता है।

(5) असम्भव को सम्भव बनाने का प्रयास करना भी साधन-निर्माण में विघ्न है। अब विचार यह करना है कि असम्भव क्या है? वस्तु, व्यक्ति ,अवस्था आदि से नित्य सम्बन्ध बना रहे, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि इसमें निज विवेक का विरोध है। विवेक-विरोधी मान्यता का नाम ही असाधन है। अतः विवेक-विरोधी मान्यताओं का साधक को त्याग करना अनिवार्य है। भूतकाल की घटनाओं का चिन्तन करना और उनके अर्थ को अपनाकर साधन-निर्माण न करना, अपितु भूतकाल के चिन्तन में ही आबद्ध रहना क्या असम्भव को सम्भव बनाने का प्रयास नहीं है? क्योंकि जो हो चुका वह मिट नहीं सकता। भूतकाल के चिन्तन ने ही सार्थक चिन्तन को उदित नहीं होने दिया। व्यर्थ चिन्तन ने ही वर्तमान को नीरस कर दिया है। नीरसता काम की जननी है। काम समस्त दोषों की भूमि है। इस दृष्टि से जो हो चुका है उसका चिन्तन करना असाधन ही है।

सार्थक चिन्तन और वर्तमान के सदुपयोग के बिना न तो वर्तमान ही सरस हो सकता है और न भविष्य ही उज्ज्वल हो सकता है। सार्थक चिन्तन जाग्रत करने के लिए भूतकाल की घटनाओं को भूलना होगा और उन घटनाओं के सार्थक अर्थ को अपनाकर वर्तमान को सरस बनाना होगा, तभी साधन-निर्माण हो सकता है। वर्तमान की नीरसता ने ही

साधक को क्षोभित कर दिया है और क्रोधी बना दिया है। क्रोध-काल में कर्त्तव्य की विस्मृति स्वाभाविक है। कर्त्तव्य-परायणता के बिना वर्तमान सरस नहीं हो सकता और न साधक राग-रहित ही हो सकता है। राग-रहित हुए बिना किसी को भी चिर-शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो सकती। तो फिर क्या वर्तमान को सरस बनाने के लिए जो सम्भव है उसी को अपनाना अनिवार्य नहीं है? अवश्य है। यह नियम है कि जो सम्भव है उसको साधक तभी अपना सकता है जब जो असम्भव है उसको सम्भव बनाने का प्रयास न करे। प्रत्येक वस्तु स्वरूप से ही उत्पत्ति-विनाशयुक्त तथा परिवर्तनशील है। अतएव उससे नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि कर्त्तव्य-बुद्धि से प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि का साध्य के नाते सदुपयोग किया जा सकता है। उनसे ममता करना प्रमाद है। वस्तु, व्यक्ति आदि की ममता का अन्त होते ही, जो सभी साधकों के लिए सम्भव है, स्वतः साधन निर्माण हो जाता है। इस दृष्टि से असम्भव को सम्भव बनाने का प्रयास न करने पर जो सम्भव है वह स्वतः हो जावेगा।

(6) साधन-निर्माण में तत्पर न होने का एक मुख्य कारण यह भी है कि साधक साधन के महत्त्व को न मानकर असाधन-जनित सुख-लोलुपता में आबद्ध हो जाता है। यद्यपि सुख-लोलुपता उसे सदैव भयंकर दुःख ही देती है, किन्तु साधन की सुलभता तथा स्वाभाविकता से अपरिचित होने के कारण असाधन का त्याग करने में अपने को असमर्थ मान लेता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई भी असाधन जीवन नहीं हो सकता, क्योंकि असाधन से साधक की जातीय एवं स्वरूप की एकता नहीं है। असाधन की उत्पत्ति तो एकमात्र अविवेक-सिद्ध है। अविवेक का अन्त प्राप्त विवेक के आदर

से वर्तमान में ही हो सकता है। अविवेक का अन्त होते ही असाधन अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही साधन की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो सरल विश्वासपूर्वक साधन के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। साधन के महत्त्व को स्वीकार न करना साधन-निर्माण में विघ्न है। अतः इस विघ्न का अन्त करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है।

(7) प्राकृतिक नियम के अनुसार मानव मात्र साधक है; परन्तु यह भूल जाना कि मैं साधक हूँ, साधन-निर्माण में बहुत बड़ा बाधक हो जाता है। यदि साधक को यह स्मृति सजग रहे कि मैं साधक हूँ, तो बड़ी ही सुगमता-पूर्वक सामर्थ्य, योग्यता, रुचि एवं परिस्थिति के अनुसार साधन-निर्माण हो सकता है; क्योंकि किसी भी साधक को वह नहीं करना है जिसे वह नहीं कर सकता और किसी भी साधक का साध्य वह नहीं हो सकता जिसकी उसे प्राप्ति नहीं हो सकती। साधन वही है जो साधक का जीवन हो जाय और साध्य वही है जिसकी प्राप्ति हो जाय। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधननिष्ठ होकर सिद्धि पाता है। साधन करने में असमर्थता स्वीकार करना और साधननिष्ठ होने पर सिद्धि में सन्देह करना साधक का प्रमाद है, और कुछ नहीं।

जब साधक इस बात को निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लेता है कि मैं साधक हूँ, तब उसकी साधन-सामग्री से तद्रूपता नहीं रहती, जिसके न रहने पर साधक बड़ी ही सुगमता-पूर्वक अपने साध्य को जान लेता है, अथवा मान लेता है।

साध्य को जान लेने पर साध्य से अभिन्नता और साध्य को मान लेने पर साध्य से नित्य सम्बन्ध स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही साधक साधन होकर, साध्य को

प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। अतः यह अनिवार्य हो जाता है कि 'मैं साधक हूं', यह स्वीकृति प्रत्येक साधक में उस समय तक निरन्तर बनी रहे जब तक वह साधन होकर साध्य से अभेद न हो जाय।

(8) साधन-सामग्री से तद्रूपता स्वीकार करने पर साधक साधन-सामग्री को ही अपना अस्तित्व मान लेता है। यह नियम है कि जिससे साधक तद्रूप हो जाता है उसमें सत्यता और प्रियता स्वतः भासने लगती है। उसका परिणाम यह होता है कि साधक भूल जाता है कि "मैं साधक हूँ", "मेरा कोई साध्य है", "मुझे अपने साध्य में अविचल श्रद्धा रखना अनिवार्य है और उसकी प्राप्ति के लिए प्राप्त साधन-सामग्री का सदुपयोग करना है।" अतः साध्य में अविचल श्रद्धा का न होना और साधन-सामग्री से तद्रूपता बनाए रखना, जो अविवेक-सिद्ध है, साधन-निर्माण में विघ्न है। साध्य में अविचल श्रद्धा न होने का दुष्परिणाम यह होता है कि साधक साध्य को वर्तमान की वस्तु नहीं मान पाता। यह नियम है कि जिसका सम्बन्ध वर्तमान से नहीं होता उसकी प्राप्ति के लिए उत्कट लालसा, परम व्याकुलता और तत्परता नहीं होती, जिसके न होने से समस्त जीवन साधन नहीं हो पाता। जिस साधक का समस्त जीवन साधन नहीं होता, वह साधक साधन होकर, साधन-तत्त्व से अभिन्न नहीं हो सकता। अतः साधक को साध्य में अविचल श्रद्धा करना तथा उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना अनिवार्य है।

(9)साधन-निर्माण में एक बाधा यह भी है कि जिससे भेद है उससे सम्बन्ध नहीं तोड़ते और जिससे दूरी है उसकी कामना नहीं छोड़ते। उसका परिणाम यह होता है कि साधक में अनेक आसक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और अनेक प्रकार के

अभाव प्रतीत होने लगते हैं। आसक्तियों में आबद्ध प्राणी शान्ति तथा स्वाधीनता से विमुख हो जाता है और अभावों में पीड़ित व्यक्ति निराशा, भय, चिन्ता, शोक आदि से आक्रान्त हो अपने को दीन-हीन मान लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, एवं योग्यता का सदुपयोग नहीं कर पाता, अर्थात् कर्त्तव्य से विमुख हो जाता है। अतः यह अनिवार्य है कि साधक उससे सम्बन्ध विच्छेद कर डाले जिससे भेद है और उसकी कामना से रहित हो जाय, जिससे दूरी है। साधक का साध्य वही हो सकता है जिससे भेद तथा दूरी नहीं है। भेद होते हुए भी जो एकता और दूरी होते हुए जो अपनापन प्रतीत होता है, वह अविवेक-सिद्ध है। जिससे भेद होते हुए एकता प्रतीत होती है, उसकी सेवा करना है, ममता नहीं और दूरी होते हुए जिससे अपनापन प्रतीत हो है, उसके प्रति सद्भावना रखनी है, उसका चिन्तन नहीं करना है और न उससे सुख की आशा रखना है। ममता ही भेद में एकता का दर्शन कराती है और सुख की आशा ही उससे अपनापन उत्पन्न करती है, जिससे दूरी है। भेद होते हुए ममता करना और दूरी रहते हुए सुख की आशा करना असाधन है। यह नियम है कि असाधन का त्याग किए बिना साधन-निर्माण सम्भव नहीं है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिससे भेद है उससे सम्बन्ध-विच्छेद और जिससे दूरी है उसकी कामना का त्याग करने पर ही साधन-निर्माण हो सकता है।

(10) साधन का एक बहुत बड़ा विघ्न यह भी है कि अपने ज्ञान का प्रभाव अपने वर्तमान जीवन में नहीं है। यह नियम है कि जब तक अपना ज्ञान अपने काम नहीं आता तब तक किसी अन्य के द्वारा सुना हुआ ज्ञान भी जीवन नहीं हो पाता। जो निज ज्ञान का आदर नहीं कर पाते, वे अपने बनाए हुए दोषों का अन्त नहीं कर पाते। दोषों का अन्त हुए

बिना निर्दोषता की अभिव्यक्ति नहीं होती। यद्यपि अपने ज्ञान में किसी को भी सन्देह नहीं होता, परन्तु निज ज्ञान के अनादर के कारण निस्सन्देहता भी सन्देह के समान ही अर्थ रखती है, अर्थात् जानते हुए भी न जानना ही प्रतीत होता है, अथवा यों कहो कि हृदय और मस्तिष्क में द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। इतना ही नहीं, वर्तमान वस्तुस्थिति तो विवेक-विरोधी रहती है और जानने का एक नवीन मिथ्याभिमान उत्पन्न हो जाता है, जो सभी दोषों का मूल है। अपने ज्ञान का अनादर करने पर बाह्य ज्ञान मस्तिष्क का संग्रह हो जाता है। संग्रह, ज्ञान न होने पर भी ज्ञान जैसा प्रतीत होता है। जो अज्ञान ज्ञान के वेश में आता है वह अज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक अहितकर सिद्ध होता है। इस कारण जब तक अपने ज्ञान का प्रभाव अपने पर न होगा तब तक साधन-निर्माण सम्भव नहीं है।

अपने ज्ञान का प्रभाव अपने पर होने पर, ज्ञान के समान उपलब्धि भी होती हे, क्योंकि असत्य का ज्ञान असत्य की निवृत्ति में और सत्य का ज्ञान सत्य की प्राप्ति में हेतु है। यह नियम है कि असत्य को असत्य जान लेने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है और असत्य की निवृत्ति में सत्य की प्राप्ति निहित है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक के जीवन पर उसके अपने ज्ञान का प्रभाव होना अनिवार्य है, तभी साधन-निर्माण हो सकता है।

(11) माना हुआ सम्बन्ध उसी से होता है जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है। माना हुआ सम्बन्ध कर्त्तव्य का प्रतीक है। सुख की आशा से रहित कर्त्तव्य-परायणता सेवा है। अतः जिनसे माना हुआ सम्बन्ध है उनकी सेवा करना अनिवार्य है। सम्बन्ध बनाए रखना और सेवा से अपने को बचाना साधन-निर्माण में विघ्न है। सेवा किये

बिना न तो सुन्दर समाज का निर्माण ही हो सकता है और न कर्ता करने के राग से रहित ही हो सकता है। राग रहित हुए बिना माने हुए सम्बन्ध का अन्त नहीं हो सकता, जिसके हुए बिना वास्तविक जीवन की न तो जिज्ञासा ही जाग्रत होती है और न उसमें प्रियता ही उदय होती है जो वास्तव में साधन है।

जिसे किसी भी कारण से सेवा न करना हो उसके लिए माने हुए सभी सम्बन्धों का विवेकपूर्वक अन्त करना अनिवार्य है। सेवा की रुचि तथा सामर्थ्य न होने पर भी सम्बन्ध बनाए रखना साधन-निर्माण में विघ्न है। यह नियम है कि सेवा और त्याग दोनों ही से साधक साधन-तत्त्व से अभिन्न हो सकता है, क्योंकि सेवा और त्याग दोनों ही का फल समान है। अतः या तो सम्बन्ध रहते हुए सेवा द्वारा राग-रहित हो जाय, अथवा त्याग को अपनाकर राग-रहित हो जाय, तभी साधन-परायणता साधक के जीवन में आ सकती है। जो इन दोनों में से किसी को नहीं अपनाता वह साधननिष्ठ नहीं हो सकता, यह निर्विवाद सत्य है।

(12) विकल्प-रहित विश्वास के अनुरूप जीवन न होने पर भी साधन-निर्माण नहीं हो पाता। विकल्प-रहित विश्वास उसी में होता है जिसके सम्बन्ध में जानकारी कुछ न हो, किन्तु उसकी आवश्यकता हो तथा उसके सम्बन्ध में श्रवण किया हो। विकल्प-रहित विश्वास यद्यपि ज्ञान नहीं है; परन्तु जीवन में उसका प्रभाव ज्ञान के समान ही होता है। विश्वास उसी में हो सकता है जिसको न जानने पर भी उसकी सत्ता को स्वीकार कर लिया जाय। जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेते हैं, उसमें विश्वास अपने आप हो जाता है। जिसमें विश्वास हो जाता है, उससे सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। जिससे सम्बन्ध हो जाता है, उसमें सत्यता तथा प्रियता

अपने आप आ जाती है। जिसमें सत्यता एवं प्रियता आ जाती है उसकी मधुर स्मृति स्वतः होने लगती है। जिसकी स्मृति जाग्रत होती है उसमें प्रीति स्वतः हो जाती है। यह नियम है कि प्रीति दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देती। दूरी न रहने पर योग और भेद के मिटने से बोध स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से विश्वास, विश्वासी का जीवन होने पर ही साधन-निर्माण तथा साधन-तत्त्व से अभिन्नता हो सकती है। अतः साधन-निर्माण के लिए यह अनिवार्य है कि विश्वास विश्वासी का जीवन हो। वह तभी सम्भव होगा ज़ब अनेक विश्वास एक विश्वास में विलीन हो जायँ। इसके लिए साधक को अपने विश्वास में अविचल श्रद्धा रखना अनिवार्य है।

(1 3) इच्छाओं की पूर्ति का प्रलोभन और आवश्यकता-पूर्ति में सन्देह साधन-निर्माण में एक बड़ा विघ्न है। प्राकृतिक नियमानुसार इच्छाओं के अनुरूप प्रवृत्ति होती है। परिणाम में अभाव ही शेष रहता है। अभाव किसी की आवश्यकता नहीं है। अतः इच्छा-पूर्ति का प्रलोभन साधन-निर्माण में बाधक है, क्योंकि इच्छाओं के रहते हुए आवश्यकता की पूर्ति सम्भव नहीं है। इसी कारण इच्छाओं की निवृत्ति में ही आवश्यकता की पूर्ति निहित है। आवश्यकता वर्तमान की वस्तु है। उसके लिए भविष्य की आशा करना आवश्यकता को अस्वाभाविक इच्छाओं से आच्छादित करना है, और कुछ नहीं। आवश्यकता की जागृति इच्छाओं को खा लेती है। किन्तु इच्छाओं की उत्पत्ति आवश्यकता को ढक सकती है, नाश नहीं कर सकती। इस दृष्टि से इच्छाएँ अस्वाभाविक और आवश्यकता स्वाभाविक है। परन्तु इच्छा-पूर्ति का प्रलोभन, अस्वाभाविक इच्छाओं में स्वाभाविकता और स्वाभाविक आवश्यकता-पूर्ति में सन्देह उत्पन्न करता है। पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं जो इच्छा और आवश्यकता के

भेद को भली-भाँति जान लेते हैं। सभी इच्छाएँ अविवेक-सिद्ध हैं। इच्छाएँ वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध जोड़ती हैं। आवश्यकता वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देती है। वस्तु, व्यक्ति आदि से नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है। इसी कारण इच्छाओं की निवृत्ति अनिवार्य है।

इच्छाओं की निवृत्ति विवेक-सिद्ध है, जो प्रत्येक परिस्थिति में सम्भव है। इच्छाओं की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति युगपद् है। निज विवेक से अविवेक का अन्त वर्तमान में ही हो सकता है। अतः सर्व इच्छाओं की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है। इस दृष्टि से जो साधक आवश्यकता-पूर्ति में सन्देह नहीं करते वे बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधननिष्ठ होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाते हैं। अतएव इच्छा पूर्ति के प्रलोभन का और आवश्यकता-पूर्ति में सन्देह करने का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि इस प्रमाद के रहते हुए साधन का निर्माण हो ही नहीं सकता।

(14) सन्देह को सहते रहना साधन-निर्माण में विघ्न है; क्योंकि निस्सन्देहता के बिना साधक को अपने साध्य में आस्था नहीं होती और उसके बिना आत्मीयता उदित नहीं होती। आत्मीयता के बिना प्रियता जाग्रत नहीं होती, जो वास्तव में साधन-तत्त्व है। प्रियता स्वभाव से ही रसरूप एवं दिव्य तथा चिन्मय है। उससे अभिन्न हुए बिना जीवन की सार्थकता सिद्ध न होगी। सन्देह की वेदना ही जिज्ञासा की जननी है। जिज्ञासा की जागृति में ही कामनाओं की निवृत्ति निहित है और कामनाओं की निवृत्ति से ही जिज्ञासा की पूर्ति होती है। इस दृष्टि से संदेह की वेदना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगी जब संदेह-निवृत्ति को साधक वर्तमान जीवन की माँग स्वीकार करे। अतः संदेह रहते हुए निस्संदेहता के लिए व्याकुल न होना साधन-निर्माण में बड़ा ही विघ्न है।

(9) साधक को साधन में स्वाभाविक प्रियता क्यों नहीं होती ?

जब तक साधक अपनी रुचि, योग्यता तथा परिस्थिति के अनुसार साधन-निर्माण नहीं कर लेता तब तक उसे साधन में स्वाभाविक प्रियता नहीं होती। जिस साधन में स्वाभाविक प्रियता नहीं होती, वह साधन साधक का जीवन नहीं हो सकता। जो साधन जीवन नहीं हो सकता, वह अखण्ड नहीं हो सकता। जो अखण्ड नहीं हो सकता, वह वास्तव में साधन नहीं है। जिस प्रकार प्रत्येक रोगी की औषधि तथा पथ्य में कुछ-न-कुछ भेद होता है, उसी प्रकार प्रत्येक साधक के साधन में कुछ-न-कुछ भेद होता है। यद्यपि प्रत्येक साधन साधन है, परन्तु किस साधक का क्या साधन है, इसका निर्विवाद निर्णय किए बिना साधन में स्वाभाविकता सम्भव नहीं है। अतः प्रत्येक साधक को अपने ही में विद्यमान साधन का निर्माण करना है। जिस साधन की उत्पत्ति साधक में से होगी, वह साधन साधक को स्वाभाविक प्रिय होगा। परन्तु जब तक साधक साधन को बाहर से अपने में आरोपित करता रहता है तब तक साधक और साधन में अभिन्नता नहीं होती और उसके हुए बिना साधन में स्वाभाविक प्रियता सम्भव नहीं है।

जिस प्रकार प्रत्येक औषधि किसी-न-किसी रोगी को आरोग्यता प्रदान करने में समर्थ है उसी प्रकार प्रत्येक साधन किसी न किसी साधक के लिए हितकर ही है। परन्तु अपना साधन क्या है, इसका निर्णय तो साधक को स्वयं ही करना होगा। औषधि-मात्र को प्रत्येक रोगी नहीं खा सकता, उसी प्रकार जो अपना साधन नहीं है, वह साधक से नहीं हो सकता। जो नहीं हो सकता, उसको करने का प्रयास

अस्वाभाविक है। अतः प्रत्येक साधक को अपने साधन की खोज करने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। अपने साधन की खोज करने में साधक असमर्थ तथा परतन्त्र नहीं है, क्योंकि किसी भी साधक को वह नहीं करना है जिसे वह नहीं कर सकता। जिसे जो करना है उसकी सामर्थ्य, योग्यता तथा परिस्थिति उसे प्राप्त ही है। अप्राप्त परिस्थिति से साधन-निर्माण का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः जब तक साधक प्राप्त परिस्थिति में ही साधन की खोज नहीं करेगा तब तक उसे साधन में स्वाभाविकता प्रतीत नहीं होगी और उसके बिना साधक, साधन होकर, साधन-तत्त्व से अभिन्न नहीं हो सकता।

साधन, साधक के जीवन से कोई भिन्न वस्तु नहीं है; अपितु यह निर्विवाद सिद्ध है कि साधन ही साधक का जीवन है। साधन की विस्मृति हुई है, अभाव नहीं। साधन की उत्कट लालसा स्वतः साधन की विस्मृति को खा लेती है और फिर अपने आप साधक अपने साधन को जानकर उससे अभिन्न हो जाता है, जिसके होते ही साधन में स्वाभाविक प्रियता स्वतः हो जाती है।

(10) जब सभी का साध्य एक है तो साधन अनेक क्यों हैं ?

प्राकृतिक नियमानुसार भिन्न-भिन्न साधक भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर एक ही साध्य को पाते हैं, जो सभी का सब कुछ है। साधन-तत्त्व एक है और साधन अनेक हैं, क्योंकि साधन-तत्त्व तो साध्य ही का स्वभाव है और साधन का निर्माण साधक ही में से होता है। साधक कहते ही उसको हैं जिसके पास साधन-सामग्री हो और जिसका कोई साध्य हो। साध्य सभी का एक होने पर

भी साधन-सामग्री दो साधकों की भी सर्वांश में समान नहीं है। साधन-सामग्री के सदुपयोग का नाम ही साधन है। अतः साधन-सामग्री में भेद होने से साधन में भेद अनिवार्य है। साधन में भेद होने पर भी साध्य एक है, इस कारण सभी साधन आदरणीय हैं, किन्तु अनुसरणीय प्रत्येक साधक का अपना ही साधन है। अपना साधन अपनाने में लेशमात्र भी असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक अपने साधन में स्वाधीनतापूर्वक निष्ठ हो सकता है। साधननिष्ठ होते ही साधक और साधन में भेद नहीं रहता, अर्थात् साधन साधक का जीवन हो जाता है, जिसके होते ही साधक की जो व्यक्तिगत भिन्नता थी, वह शेष नहीं रहती। भिन्नता के मिटते ही, प्रत्येक साधक, साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है, जो साध्य का स्वभाव है।

व्यक्तिगत भिन्नता के कारण ही साधन में भिन्नता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक साधन, साधन नहीं है। जब तक साधन साधक का जीवन नहीं होता तब तक व्यक्तिगत साधन में साधक को आसक्ति रहती है। साधन की अनुरक्ति साधन को जीवन बनाने में साधन-रूप है, किन्तु साधन का अभिमान असाधन है। साधन का अभिमान ही साधकों में परस्पर एकता नहीं होने देता, जो वास्तव में प्रमाद है। साधन की अनुरक्ति तो साधक को साधन से अभिन्न करती है,किन्तु साधन का अभिमान साधक और साधन में भेद दृढ़ करता है। अतः साधन के अभिमान का त्याग कर प्रत्येक साधक को अपने साधन ही में अविचल निष्ठा रखनी चाहिये, तभी साधन जीवन होकर साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न कर सकता है, जो सफलता की कुंजी है। साध्य एक होते हुए साधन की अनेकता केवल साधकों की व्यक्तिगत भिन्नता (Individual Difference) के कारण ही

है। व्यक्तिगत भिन्नता मंगलमय विधान से निर्मित है। उसका आदर करते हुए सदुपयोग करना है। साधन-सामग्री में साधक को जीवन-बुद्धि नहीं रखना है, क्योंकि जिसमें जीवन-बुद्धि कर ली जाती है उससे तद्रूपता हो जाती है। जिसमें तद्रूपता हो जाती है, उसका सदुपयोग करना सम्भव नहीं रहता। इस कारण साधन- सामग्री को अपने से भिन्न जानकर उसका विवेकपूर्वक सदुपयोग करना है और वही साधन है। प्राप्त का सदुपयोग ही साधन का मूल है। इस कारण प्रत्येक साधक, साधन करने में स्वाधीन है। साधन-सामग्री का भेद ही साधन का भेद है, किन्तु उसके उपयोग का फल एक है। इसी कारण सभी साधक साधन की भिन्नता होने पर भी साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाते हैं। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता हैं कि साध्य की एकता होने पर भी साधन में भिन्नता अनिवार्य हैं, किन्तु वह सफलता में बाधक नहीं है।

(11) साधक को अपने साधन का ज्ञान कैसे हो ?

प्रत्येक साधक में साधन का ज्ञान बीज-रूप से विद्यमान है। यदि ऐसा न होता तो साधन करने का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। ऐसा कोई साधक नहीं है जो अपने बनाए हुए असाधन से परिचित न हो। यह नियम है कि जब साधक अपने जाने हुए असाधन का त्याग कर देता है तब उसमें जो विद्यमान साधन है उसका प्रादुर्भाव अपने आप हो जाता है, क्योंकि किसी भी साधक को वह साधन करना ही नहीं है जिसे वह नहीं कर सकता। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक कर्ता को अपने-अपने कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य स्वतः प्राप्त है। प्राप्त के सदुपयोग में ही साधन-परायणता निहित है। जिस ज्ञान में असाधन का त्याग है, उसी ज्ञान में साधन का ज्ञान भी निहित है। यह ज्ञान

साधक को साधन करने के लिए ही मिला है। अतः साधक के विवेक में समस्त साधनों का ज्ञान विद्यमान है। इस दृष्टि से निज विवेक का आदर ही, साधन-निर्माण में मुख्य हेतु है। किन्तु साधक उस समस्त ज्ञान में से अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति के अनुरूप ज्ञान को व्यक्त कर, उसके अनुसार साधन का निर्माण करने में समर्थ होता है। वास्तव में तो विवेक-विरोधी कार्य करना ही साधन-निर्माण में बाधक है। निज विवेक, साधन-निर्माण का विधान है और प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता साधन-सामग्री है। विधान के अनुरूप प्राप्त साधन-सामग्री का उपयोग ही साधन है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधन-निर्माण में सर्वदा स्वाधीन है। असाधन-जनित सुख-लोलुपता ने ही बेचारे साधक को साधननिष्ठ होने में असमर्थ तथा पराधीन बना दिया है। साधन-निष्ठ न होने की वेदना जाग्रत होते ही असाधन जनित सुख लोलुपता स्वतः ही मिट जाती है। जिसके मिटते ही असाधन का त्याग करना, साधक के लिए सुगम हो जाता है और फिर साधन-निर्माण स्वतः हो जाता है।

असाधन की उत्पत्ति होती है। इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसी कारण इसका विनाश होता है। असाधन, साधक के सहयोग से ही जीवित है। यदि साधक असाधन से असहयोग कर ले तो असाधन अपने आप मिट जाता है।

असाधन की उत्पत्ति का मूल अविवेक है, और कुछ नहीं। अविवेक का अन्त होते ही असाधन की उत्पत्ति ही नहीं होती। अविवेक का अन्त वर्तमान जीवन की वस्तु है। इस दृष्टि से अविवेक का अन्त कर प्रत्येक साधक, साधन- निर्माण में समर्थ होता है। अविवेक का अन्त विवेक-सिद्ध है, जो मंगलमय विधान से सभी साधकों को स्वतः प्राप्त है।

साधक, साधन-निर्माण में तभी तक असमर्थ है, जब तक उसे साधन न करने की वेदना नहीं है, अथवा साधन करने का दृढ़ संकल्प नहीं है। साधननिष्ठ होने की रुचि, साधक की उन सभी बाधाओं को हर लेती है जो साधन-निर्माण में विघ्न हैं। अतः साधन की रुचि में ही साधन-निर्माण के ज्ञान की अभिव्यक्ति निहित है।

(12) साधक होने का अधिकारी कौन है ?

जिन प्राणियों को दूसरों के द्वारा अपने प्रति होने वाली बुराइयों का ज्ञान होता है, वे सभी साधक होने के अधिकारी हैं, अथवा जो अपने ज्ञान से अपने दोषों को जानता है, वह भी साधक हो सकता है। साधक होने का प्रश्न उसके सामने नहीं है जो सर्वांश में निर्दोष है और साधक वह भी नहीं हो सकता जो दोष के ज्ञान से अपरिचित है। साधक होने का अधिकारी प्राणी तभी होता है जब वह निज दोष के ज्ञान से व्यथित होता है और उसमें निर्दोषता की लालसा जाग्रत होती है। जो निर्दोषता के बिना किसी भी प्रकार चैन से नहीं रहता वह प्रथम श्रेणी का साधक है, अर्थात् निर्दोषता उसकी वर्तमान आवश्यकता है। ऐसा साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधननिष्ठ होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न हो सकता है।

जो प्राणी अपने दोष-युक्त जीवन से असन्तुष्ट तो रहता है, किन्तु दोष-जनित सुख-लोलुपता के कारण निर्दोषता-प्राप्ति के लिए वर्तमान ही में कटिबद्ध नहीं होता, वह द्वितीय श्रेणी का साधक है। ऐसे साधक को दोष-जनित वेदना को सबल बनाने के लिए परस्पर विचार-विनिमय द्वारा अपने दोषों का अपनी विवेक-दृष्टि से अध्ययन करना चाहिए। ऐसा करने से निर्दोषता की लालसा सबल होती जाएगी। निर्दोषता की लालसा दोष-युक्त कामनाओं का अन्त करने में समर्थ है।

दोष-युक्त कामनाओं का अन्त होते ही निर्दोषता वर्तमान की आवश्यकता हो जाएगी, जो साधक को साधन-परायण करने में समर्थ है।

जो प्राणी निर्दोष जीवन का महत्त्व स्वीकार तो करता है, किन्तु दोष का त्याग करने में अपने को असमर्थ मान लेता है। इतना ही नहीं, निर्दोषता की प्राप्ति के लिए किसी अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करता है तथा "प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही निर्दोषता निहित है"-इस निर्विवाद सत्य में पूर्णरूपेण आस्था नहीं रखता, वह तृतीय श्रेणी का साधक है। उसमें निर्दोष होने की लालसा कभी-कभी उत्पन्न होती है, किन्तु वह स्थायी नहीं रह पाती। प्रतिकूलताओं के भय और अनुकूलता की दासता में आबद्ध होकर अपने को साधन-निर्माण में पराधीन मान लेता है और अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के भोग को ही जीवन स्वीकार कर लेता है। यह उसका प्रमाद है, और कुछ नहीं। जब वह प्राप्त अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग करने में विश्वास कर लेता है तब उसमें साधन-निर्माण की रुचि जाग्रत होती है। यह नियम है कि जो रुचि सबल तथा स्थायी हो जाती है, उसकी पूर्ति की सामर्थ्य स्वतः आजाती है। इस दृष्टि से तृतीय श्रेणी का साधक भी साधननिष्ठ हो सकता है।

ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं जो अपने प्रति दूसरों से कर्त्तव्य की आशा न रखता हो। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि कर्त्तव्य की माँग कर्त्तव्य-पालन का आदेश देती है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध किसी अप्राप्त परिस्थिति से नहीं है, अपितु प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही कर्त्तव्य है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति साधक है, किन्तु असाधन-जनित सुख-भोग की दासता में आबद्ध होने से अपने को साधक स्वीकार न करके, साधारण व्यक्ति मानता है और यह बात भूल जाता है

कि व्यक्ति तो साधारण ही है। असाधारणता तो एकमात्र साध्य ही में हो सकती है, साधक में नहीं।

साधारण और असाधारण में केवल यही अन्तर है कि जो सर्वांश में निर्दोष है वह असाधारण है और जिसमें आंशिक निर्दोषता है वह साधारण है। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई भी व्यक्ति सर्वांश में दोषी नहीं है। आंशिक निर्दोषता, निर्दोषता की लालसा जाग्रत करने में समर्थ है। निर्दोषता की लालसा निर्दोष जीवन से सम्बन्ध जोड़ देती है। उसका परिणाम यह होता है कि उत्पत्ति-विनाशयुक्त दोषों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। यह नियम है कि असत्य से सम्बन्ध विच्छेद होते ही असत्य की निवृत्ति स्वतः हो जाती है, जिसके होते ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति अथवा निर्दोषता से अभिन्नता स्वतःसिद्ध है।

निर्दोषता उत्पत्ति-विनाश-रहित स्वतन्त्र सत्ता है। उससे देशकाल की दूरी सम्भव नहीं है। इस कारण उसकी प्राप्ति वर्तमान जीवन की ही वस्तु है। जो वास्तव में सर्वत्र तथा सर्वदा है, उसकी विस्मृति हो सकती है, किन्तु उससे दूरी तथा भेद नहीं हो सकता। जिससे दूरी नहीं हो सकती, उससे नित्ययोग हो सकता है और जिससे भेद नहीं हो सकता उसका बोध हो सकता है। जिससे योग तथा जिसका बोध हो सकता है उसमें प्रेम स्वतःसिद्ध है। अतः निर्दोष तत्त्व से योग तथा उसका बोध एवं उसमें प्रेम होना ही वास्तव में साधन-तत्त्व है। उस साधन-तत्त्व से अभिन्न होने में प्रत्येक साधननिष्ठ साधक सर्वदा समर्थ है।

समस्त दोष अविवेक-सिद्ध हैं, वास्तविक नहीं। अतः उनकी निवृत्ति विवेक-सिद्ध है। मंगलमय विधान के अनुसार विवेक प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः प्राप्त है। अविवेक विवेक का नाश नहीं कर सकता, अपितु उसे आच्छादित

करता है। इसी कारण कोई भी व्यक्ति सर्वांश में दोषी नहीं होता, किन्तु अविवेक का अन्त होने पर सर्वांश में निर्दोश हो सकता है। अतः जिसमें आंशिक निर्दोषता है वही साधक होने का अधिकारी है।

(13) साधन में शिथिलता क्यों आती है ?

असाधन के साथ-साथ किया हुआ साधन, साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न नहीं होने देता; कारण कि द्वन्द्वात्मक स्थिति सीमित अहम् भाव को पुष्ट करती रहती है। सीमित अहम्भाव ने ही साधन-तत्त्व से दूरी तथा भेद उत्पन्न कर दिया है। यह सभी जानते हैं कि केवल असाधन तो किसी भी साधक में रह ही नहीं सकता, क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई व्यक्ति सर्वांश में दोषी है ही नहीं। अतः यदि साधक को साधननिष्ठ होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न होना है तो उसे सीमित अहम्भाव का अन्त करना होगा। वह तभी हो सकता है जब साधन के साथ-साथ असाधन की गंध भी न हो। असाधन का ज्ञान ही असाधन को मिटाने में समर्थ है, क्योंकि जो मिथ्या है उसका ज्ञान होने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है। अतः असाधन का ज्ञान ही असाधन का नाश करने में समर्थ है। इस दृष्टि से जो साधक अपने वर्तमान जीवन में असाधन जान लेता है वह बड़ी सुगमतापूर्वक साधननिष्ठ होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है। साधन-तत्त्व से अभिन्न होने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। परन्तु अपने असाधन को जानने की प्राप्त सामर्थ्य का व्यय साधक पर-दोष-दर्शन में कर देता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह अपने को साधन-असाधन की द्वन्द्वात्मक स्थिति में आबद्ध कर लेता है। बस, इसी प्रमाद से साधन में शिथिलता आ जाती है।

यह नियम है कि पराए कर्त्तव्य पर दृष्टि रखने से साधक अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है, क्योंकि किसी के कर्त्तव्य की स्मृति से ही अपने कर्त्तव्य की विस्मृति हो जाती है। कर्त्तव्य की विस्मृति ने ही साधक में अधिकार-लालसा को जन्म दिया है। अधिकार-लालसा ने ही पर-दोष-दर्शन की रुचि उत्पन्न की है, क्योंकि अधिकार की अपूर्ति क्षोभित तथा क्रोधित कर देती है। क्षोभित होने पर प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय नहीं हो पाता और क्रोधित होने पर कर्त्तव्य आदि की विस्मृति हो जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि साधक कर्त्तव्य-पालन में असमर्थ तथा पराधीन है, क्योंकि साधक जिसे नहीं कर सकता वह उसे करना ही नहीं है। उसे तो वही करना है जो कर सकता है। इस दृष्टि से, भला, साधननिष्ठ होने में असमर्थता तथा पराधीनता कहाँ है? अर्थात् नहीं है।

साधन वर्तमान की वस्तु है। जो वर्तमान की वस्तु है उसको न करना इस बात को सिद्ध करता है कि साधक साधननिष्ठ होने की सामर्थ्य का दुर्व्यय कर रहा है। इसी असावधानी से साधन में शिथिलता आजाती है। यह बात सिद्धान्त-रूप से सभी साधकों को मान लेनी चाहिए कि दूसरों के कर्त्तव्य की स्मृति में ही अपने कर्त्तव्य की विस्मृति निहित है। वर्तमान में साधननिष्ठ वही साधक हो सकता है जिसकी दृष्टि पराए कर्त्तव्य पर कभी नहीं जाती, क्योंकि उसे अपने कर्त्तव्य से अवकाश ही कहाँ मिलता है ! साधन कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसमें कभी न करने की बात आए। साधन वही है जो स्वभाव से ही निरन्तर होता रहे। यदि साधन में व्यवधान पड़ता है तो यह समझना चाहिए कि साधन के भेष में किसी असाधन को अपना लिया है। साधक के जीवन में असाधन के लिए कोई स्थान ही नहीं है। प्राकृतिक

नियमानुसार असाधन अपने आप नहीं होता, अपितु करना पड़ता है। हाँ, यह अवश्य है कि असाधन का त्याग करने पर साधन अपने आप होने लगता है। जब साधन अपने आप होने लगता है, तब साधन में शिथिलता का कोई प्रश्न नहीं रह जाता, क्योंकि शिथिलता श्रम-साध्य है, स्वभाव-सिद्ध नहीं है। साधक के जीवन में श्रम-साध्य साधन तभी तक रहता है जब तक असाधनयुक्त साधन है। अतः असाधन का अन्त होते ही साधन की शिथिलता सदा के लिए स्वतः मिट जाती है।

(14) साधन में अस्वाभाविकता क्यों प्रतीत होती है?

साधक, साधन-निर्माण करने से पूर्व, साधन करना आरम्भ कर देता है। उसका परिणाम यह होता है कि साधन उसके लिए भार हो जाता है। जिस प्रकार यथेष्ट निदान किए बिना यदि औषधि सेवन की जाय तो वह हितकर सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार अपनी वास्तविक वस्तुस्थिति का अध्ययन किए बिना यदि साधन करना आरम्भ किया जाय तो वह साधन स्वाभाविक नहीं होता।

जिस प्रकार प्रत्येक औषधि किसी-न-किसी रोगी के लिए तो हितकर ही है उसी प्रकार प्रत्येक साधन,उसके लिए, जो उस साधन का अधिकारी है, उपयुक्त ही है। साधन उसे नहीं कहते जिसमें साधक को सन्देह हो, क्योंकि सन्देह रहते हुए साधन में सद्भाव नहीं हो सकता। जिसमें सद्भाव नहीं होगा उसमें दृढ़ता नहीं आएगी। उसके बिना साधन करने में तत्परता नहीं होगी और तत्परता के बिना अस्वाभाविकता नाश नहीं होगी। अतः सन्देहयुक्त साधन में स्वाभाविकता नहीं हो सकती। स्वाभाविकता उसी साधन में हो सकती है जिसमें साधक को लेशमात्र भी सन्देह न हो,

अर्थात् साधन निज विवेक के अनुरूप हो, क्योंकि विवेक-विरोधी साधन में निस्सन्देहता सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, किसी अन्य साधन द्वारा सिद्धि का प्रलोभन भी साधक को अपने साधन से विचलित न कर सके, अपितु उसमें यही भाव दृढ़ रहे कि मुझे अपने ही साधन द्वारा सिद्धि प्राप्त करना हैं। यही निस्सन्देहता की कसौटी है। यह नियम है कि निस्सन्देहता से अभिन्नता स्वाभाविक है और अभिन्नता में प्रियता स्वाभाविक हैं। जिसमें प्रियता हो जाती है उसमें अस्वाभाविकता की गंध भी नहीं रहती। इस दृष्टि से साधन वही सार्थक सिद्ध हो सकता है जिसमें सन्देह न हो। सन्देह उसी में नहीं होता जो अपने ज्ञान के अनुसार है। अतएव स्वाभाविकता उसी साधन में आ सकती है जिस साधन के प्रति सन्देह नहीं है।

अपने साधन के प्रति यह भी आवश्यक है कि वह अपने लिए रुचिकर हो। हाँ, यह अवश्य है कि साधन रुचिकर होते हुए भी विवेक--विरोधी न हो। क्योंकि जो रुचि विवेक-विरोधी होती है वह भोग है, साधन नहीं। असाधन के रूप में साधन करना साधन नहीं है, अपितु असाधन ही है, जो वास्तव में त्याज्य है। वस्तु, व्यक्ति आदि में सत्यता और सुन्दरता रुचिकर हो सकती है, किन्तु वह रुचि विवेक-विरोधी है, क्योंकि कोई भी वस्तु ऐसी हो ही नहीं सकती जिसकी सुन्दरता नित्य हो, जिसमें मलीनता न हो और जो अविनाशी हो तथा जिससे नित्य सम्बन्ध सुरक्षित रह सके। ऐसी स्थिति में वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा साधन हो सकता है, उनकी ममता और उनका भोग साधन नहीं हो सकता। अतः योग्यता, ईमानदारी, परिश्रमपूर्वक उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन तथा उनका सदुपयोग एवं

निर्मोहता पूर्वक व्यक्तियों की सेवा करने की रुचि में निज विवेक का विरोध नहीं है।

वह साधन भी साधक के लिए स्वाभाविक तथा हितकर नहीं हो सकता जो साधन उसकी परिस्थिति के प्रतिकूल हो, क्योंकि परिस्थिति के प्रतिकूल साधन कभी क्रियात्मक नहीं हो सकता। यह नियम है कि सक्रिय साधन के बिना करने के राग का नाश सम्भव नहीं है, जिसके हुए बिना साधन सार्थक सिद्ध नहीं होगा और न उस साधन की अभिव्यक्ति होती है जो स्वभाव से ही निरन्तर होता रहे, जिसमें करने की गंध भी न हो। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वह साधन साधन नहीं है जो प्राप्त परिस्थिति के प्रतिकूल है।

जिस साधन में निस्सन्देहता होती है उसमें बुद्धि और जो साधन रुचिकर होता है उसमें मन अपने आप लग जाता है। मन-बुद्धि के लगने से साधन में स्वाभाविकता आ जाती है, क्योंकि मन, बुद्धि आदि को लगाने-हटाने में जो अस्वाभाविकता है वह नाश हो जाती है। कारण कि हटाना और लगाना श्रम-साध्य है। श्रम कभी भी अखण्ड नहीं हो सकता। श्रम यदि विश्राम में विलीन नहीं होता तो उसमें किसी-न-किसी अंश में अस्वाभाविकता ही रहती है। वह श्रम, जो परिस्थिति के अनुसार हो और वह विश्राम, जिसमें सुख-भोग की गंध भी न हो, साधन-रूप है और उसमें अस्वाभाविकता नहीं है। सुख की आशा से किया हुआ साधन, साधन के भेष में असाधन ही है, क्योंकि सुख-भोग, निर्वासना नहीं आने देता, अपितु नवीन वासना को जन्म ही देता रहता है। इस कारण वही निवृत्ति और प्रवृत्ति साधन-रूप हो सकती है जो सुख की आशा से रहित है। सुख की आशा से रहित निवृत्ति अहम्भाव का अन्त कर देती है और सुख की आशा से रहित प्रवृत्ति समस्त आसक्तियों को खा लेती है।

अहम् का नाश होते ही समस्त भेद मिट जाते हैं और आसक्तियों का अन्त होते ही स्वतः प्रीति की अभिव्यक्ति होती है। भेद के नाश में अध्यात्म साधन की पराकाष्ठा और प्रीति की अभिव्यक्ति में आस्तिक साधन की परावधि है। आसक्ति-रहित प्रवृति परस्पर में स्नेह की वृद्धि और अन्त में चिर-शान्ति प्रदान करती है, जो वास्तव में भौतिकवाद की दृष्टि से परम साधन है। प्रत्येक साधक के जीवन में भौतिकता, आध्यात्मिकता और आस्तिकता ओतप्रोत है। समस्त जीवन साधन तभी हो सकता है जब सभी दृष्टियों से साधन, सार्थक सिद्ध हो जाय और तभी साधन में स्वाभाविकता आएगी।

समस्त साधनों का आरम्भ होता है सुख की आशा से रहित की हुई सेवा से, क्योंकि यह कर्त्तव्य-विज्ञान है और समस्त साधनों का अन्त होता है प्रीति की अभिव्यक्ति में, क्योंकि प्रीति से ही अपने साध्य को रस मिलता है। इस दृष्टि से सुख की आशा का त्याग और प्रेमास्पद को रस देने की उत्कट लालसा में ही साधन-तत्त्व से अभिन्नता हो सकती है, जिसके होते ही साधन में स्वाभाविकता आजाती है, जो सभी साधकों को अभीष्ट है।

परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य, निस्सन्देहता और रुचि, साधन के बाह्य अंग हैं और सुख की आशा का अत्यन्त अभाव तथा प्रियतम को रस देने की उत्कट लालसा साधन के आन्तरिक अंग हैं। बाह्य तथा आन्तरिक अंगों की पूर्णता में ही साधन की स्वाभाविकता निहित है।

(15) साधन का आरंभ कैसे हो ?

साधन की लालसा में ही साधन का आरम्भ निहित है। यद्यपि साधन की लालसा मानव-मात्र में विद्यमान है, परन्तु उस लालसा को असाधनयुक्त कामनाओं ने आच्छादित कर

दिया है। असाधन का आरम्भ सुखद और परिणाम दुःखद है। जब तक साधक अपने को सुखभोग के प्रलोभन में आबद्ध रखता है तब तक न तो असाधन का त्याग ही होता है और न साधन का आरम्भ ही। असाधन के परिणाम का प्रभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों ही असाधन-जनित सुख-लोलुपता स्वयं मिटती जाती है, जिसके मिटते ही असाधन का त्याग और साधन का आरम्भ युगपद् हो जाता है। वास्तव में तो असाधन का त्याग भी साधन ही है।

प्रतिकूलताओं से भयभीत होकर जो हार स्वीकार नहीं करता, अपितु प्रतिकूलता के सदुपयोग में ही प्रयत्नशील रहता है वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधननिष्ठ हो जाता है। अतः प्रतिकूलताओं से भयभीत न होने में भी साधन का आरम्भ निहित है। प्राकृतिक विधान के अनुसार प्रतिकूलताएँ तथा अनुकूलताएँ अपने आप आती हैं, पर वे सदैव न रहेंगी। इस अनुभूति का आदर करने पर भी साधन का आरम्भ हो जाता है; क्योंकि जो सदैव नहीं रहता वह जीवन नहीं है। उसके सदुपयोग का नाम ही साधन है। सदैव न रहने वाली वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद तथा उनका सदुपयोग करने में न तो पराधीनता ही है और न असमर्थता । अतः जो अनुकूलता तथा प्रतिकूलता में जीवन-बुद्धि स्वीकार नहीं करता, अपितु उन्हें साधन-सामग्री ही जानता है वह न तो प्रतिकूलता से भयभीत होता है और न अनुकूलता की दासता में ही आबद्ध रहता है। वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से साधन का आरम्भ कर सकता है।

निज विवेक के प्रकाश में वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद द्वारा भी साधन का आरम्भ हो सकता है, क्योंकि वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद करने पर लोभ, मोह आदि दोषों का नाश स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि

से निज ज्ञान के आदर में भी साधन का आरम्भ निहित है। यह नियम है कि वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद करने पर प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा स्वतः होने लगती है। इस दृष्टि से प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग एवं व्यक्तियों की सेवा द्वारा भी साधन का आरम्भ हो सकता है।

अपने प्रति होने वाली बुराई सभी को स्वभाव से ही अप्रिय है। अतः हम किसी का बुरा न चाहें, इस सद्भावना को दृढ़ करने से भी साधन का आरम्भ हो सकता है, क्योंकि पवित्र भाव अपवित्रता का नाश करने में समर्थ है। वस्तुओं से अतीत के जीवन में अविचल श्रद्धा होने पर भी वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही उससे सम्बन्ध अपने आप हो जाता है जो सभी वस्तुओं से अतीत है तथा जो उत्पत्ति-विनाश-रहित अनुत्पन्न हुआ है। इतना ही नहीं, जो सभी का आधार एवं प्रकाशक है उसकी सत्ता स्वीकार करने पर भी साधन का आरम्भ हो जाता है। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान और उनकी ममता का त्याग उसमें अविचल श्रद्धा जाग्रत करता है जो सभी का सब कुछ होते हुए भी सभी से अतीत है। अतः उस अनन्त की सत्ता स्वीकार करने में भी साधन का आरम्भ निहित है।

साधन की लालसा कर्त्तव्य-बुद्धि से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग, विवेकपूर्वक देह आदि वस्तुओं से असंगता, सरल विश्वासपूर्वक वस्तुओं से अतीत के जीवन में श्रद्धापूर्वक अपने साध्य से निराश न होने में साधन का आरम्भ निहित हैं।

(16) साधन की लालसा

यद्यपि साधन की लालसा बीज-रूप से प्रत्येक साधक में विद्यमान है, परन्तु असाधन की कामना ने साधन की लालसा को जाग्रत नहीं होने दिया। ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं जिसमें आंशिक साधन और आंशिक असाधन न हो।

आंशिक असाधन की कामना को नाश करने के लिए ही विद्यमान साधन की लालसा को सबल तथा स्थायी करना है। यह तभी संभव होगा जब साधक अपने में विद्यमान आंशिक साधन को सर्वांश में अपनाले। जिस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से असत् में सत् ही की सत्ता है और असत् सत् ही से प्रकाशित है, उसी प्रकार आंशिक साधन के महत्त्व से ही साधक प्रमादवश आंशिक असाधन को जीवित रखता है, क्योंकि केवल दोषयुक्त जीवन किसी का नहीं है। गुण-दोषयुक्त जीवन में ही साधन की लालसा का प्रश्न उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, सीमित गुण भी दोष बन जाता है। किसी भी एक साधन के विभु हो जाने पर असाधन-जनित सभी कामनाएँ अपने आप मिट जाती हैं, जिसके मिटते ही साधन की लालसा सबल तथा स्थायी हो जाती है और फिर साधक साधन होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है।

साधन की लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों असाधन-जनित कामनाएँ अपने आप मिटती जाती हैं। ज्यों-ज्यों असाधन-जनित कामनाएँ मिटती जाती हैं, त्यों-त्यों साधन की लालसा वर्तमान जीवन की वस्तु हो जाती है। यह नियम है कि जो लालसा वर्तमान जीवन से संबंध रखती है उसकी पूर्ति स्वतः हो जाती है। साधन-लालसा की पूर्ति में ही साधक का अस्तित्व साधन होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार वास्तव में साधन ही साधक का अस्तित्व है। परन्तु जब तक साधक के जीवन में आंशिक असाधन रहता है तब तक उसे अपने और अपने साधन में किसी-न-किसी प्रकार का भेद प्रतीत होता है। जब साधक को वह भेद असह्य हो जाता है तब अपने आप असाधन का सर्वांश में नाश हो जाता है।

साधन, साधन-तत्त्व के समान ही नित्य तत्त्व है। इस कारण प्रत्येक साधक को साधन होना अनिवार्य है। असाधन-जनित सुख-लोलुपता की दासता ने ही बेचारे साधक को साधन से विमुख किया है, किन्तु साधन की लालसा का नाश करने में असाधन समर्थ नहीं है। साधन-लालसा असाधन का अन्त करने में सर्वदा समर्थ है। इस रहस्य को जान लेने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक विद्यमान साधन-लालसा को जाग्रत करने में सफल होता है।

(17) साधन का महत्त्व

साधन का महत्त्व जाने बिना जीवन की सार्थकता संभव नहीं है। निराशा में आशा, अभाव में भाव, दुःख में आनन्द, पराधीनता में स्वाधीनता और अन्धकार में प्रकाश का दर्शन साधन के महत्त्व में ही निहित है।

साधन का महत्त्व जान लेने पर प्रत्येक परिस्थिति समान अर्थ रखती है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहती। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, साधन होकर साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न करने में समर्थ होती है। प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो साधन के महत्त्व से भली-भाँति परिचित हैं।

साधन के महत्त्व को जाने बिना कोई भी व्यक्ति अपने को साधक स्वीकार नहीं कर सकता,क्योंकि साधन के महत्त्व से ही व्यक्ति, व्यक्ति-भाव को त्याग, साधक-भाव स्वीकार करता है। साधक-भाव की स्वीकृति में ही साधन-निर्माण की उत्कंठा जाग्रत होती है, जो साधक को असाधन का त्याग करने के लिए विवश कर देती है।

जब तक व्यक्ति अपने को साधक नहीं जान लेता तब तक उसे परिस्थिति ही जीवन प्रतीत होती है। प्रत्येक परिस्थिति सतत् परिवर्तनशील है। अतः कोई भी परिस्थिति जीवन हो ही कैसे सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि न रहने पर परिस्थितियों से अतीत वास्तविक जीवन की लालसा स्वतः जाग्रत होती है। वही व्यक्ति परिस्थितियों का दास है जो अपने को साधक स्वीकार नहीं करता। व्यक्ति साधक होकर परिस्थितियों का सदुपयोग करने में समर्थ होता है। परिस्थितियों का सदुपयोग परिस्थितियों से असंगता प्रदान करने में हेतु है। परिस्थितियों से असंग होते ही जीवन साधन और साधन जीवन हो जाता है।

साधन ही साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न कर साध्य को रस देने में समर्थ होता है। इतना ही नहीं, साध्य असाधन को सत्ता देता है और उसे प्रकाशित करता है, पर उसका नाश नहीं करता, क्योंकि सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं; किन्तु सत् की लालसा, जो साधन-रूप है, असत् को खाकर साधक को सत् से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साध्य की अपेक्षा साधन का कहीं अधिक महत्त्व है। हाँ, यह अवश्य है कि साधन में सत्ता साध्य की ही होती है। यह साध्य की कृपालुता है कि साधन को सत्ता देकर उसे अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया।

प्रत्येक साधक को यह ध्यान रहे कि साधन का महत्त्व साध्य की प्राप्ति में ही है, उसकी विस्मृति में नहीं, अर्थात् साध्य के लिए ही साधन का महत्त्व है, क्योंकि साधक का साध्य से सम्बन्ध साधन हुए बिना संभव नहीं है। अतः साधन का महत्त्व स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है।

(18) असाधन का त्याग

विवेक-विरोधी स्वीकृति, कर्म, सम्बन्ध और चिन्तन असाधन हैं। अतः प्रत्येक साधक को असाधन का त्याग करना अनिवार्य है, क्योंकि असाधन के त्याग में ही साधन का निर्माण निहित है। प्राकृतिक नियमानुसार दर्शन अनेक और जीवन एक है; किन्तु असाधन का त्याग सभी मत, सम्प्रदाय, विचाराधारा के साधकों के लिए समान है, अथवा यों कहो कि भौतिकवादी, अध्यात्मवादी, विचारमार्गी एवं विश्वासमार्गी के लिए भी असाधन का त्याग अनिवार्य है। असाधन का त्याग किए बिना, किसी भी सिद्धान्त का मानने वाला क्यों न हो, सफल नहीं हो सकता। असाधन के लिए साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

विवेक-विरोधी स्वीकृति पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसको 'यह' करके सम्बोधन करते हैं उसे 'मैं' नहीं कह सकते। इस दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी को निज विवेक द्वारा तो 'मैं' नहीं कह सकते। 'मैं' जैसी कोई भी वस्तु यदि है तो इन सबसे भिन्न है। परन्तु जब व्यक्ति अपने को देह मान लेता है तब बेचारा मोह में आबद्ध हो जाता है। जिसके होते ही अनेक कामनाएँ स्वतः उत्पन्न होने लगती हैं; कारण कि ऐसी कोई कामना हो ही नहीं सकती जिसका सम्बन्ध देह में अहम्-बुद्धि स्वीकार किये बिना होता हो। कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति ही सुख-दुःख की जननी है। सुख की दासता तथा दुःख का भय प्राणी को साधननिष्ठ नहीं होने देता। यद्यपि सुख-दुःख के सदुपयोग में ही साधन निहित है, परन्तु यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जो विवेक-विरोधी स्वीकृति का त्याग कर मोह-रहित हो जाते हैं। इस दृष्टि से विवेक-विरोधी स्वीकृति का त्याग प्रत्येक साधक के लिए परम आवश्यक है।

विवेक-विरोधी स्वीकृति तो कभी भी साधन-रूप हो ही नहीं सकती। व्यक्तित्व की दासता से मुक्त करने में "मैं देह नहीं हूँ"- यह स्वीकृति स्वीकार करना अनिवार्य होगा। किन्तु व्यक्तित्व को सुन्दर बनाने के लिए उन सभी स्वीकृतियों को साधन-रूप में स्वीकार करना होगा जो स्वीकृतियाँ गुणों के विकास में तथा कर्त्तव्य-पालन द्वारा दूसरों के अधिकारों की रक्षा में हेतु हैं। यह नियम है कि साधन-रूप स्वीकृतियों के अनुरूप कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही स्वीकृति स्वयं नाश हो जाती है और फिर निर्वासना अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही अपने में से देह-भाव का सदा के लिए अन्त हो जाता है,अर्थात् देह से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

विवेक-विरोध कर्म के अतिरिक्त अकर्त्तव्य और कुछ नहीं है। अकर्त्तव्य के रहते हुए न तो करने का राग ही नाश होता है और न सुन्दर समाज का निर्माण ही होता है। इस कारण विवेक-विरोधी कर्म का त्याग अनिवार्य है। विवेक-विरोधी कर्म के त्याग में ही अकर्त्तव्य का अन्त हो जाता है, जिसके होते ही कर्त्तव्यपरायणता अपने आप आ जाती है, क्योंकि अकर्त्तव्य के त्याग में ही कर्त्तवयपरायणता निहित है। कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान राग को खा लेती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता के बिना कोई भी साधक राग-रहित नहीं हो सकता। राग-रहित हुए बिना भोग योग में, स्वार्थ सेवा में, अशान्ति शान्ति में, पराधीनता स्वाधीनता में विलीन नहीं होती; क्योंकि राग ही अशान्ति, स्वार्थ-भाव तथा पराधीनता को जन्म देता है। अतः विवेक-विरोधी कर्म का त्याग अनिवार्य है।

व्यक्तित्व को सुन्दर बनाना और उसकी दासता से मुक्त होना ही साधन की पूर्णता है। यदि कोई साधक केवल व्यक्तित्व को सुन्दर बनाने में ही लगा है तो वह उसकी

केवल आंशिक साधना है। आंशिक साधना में सन्तुष्ट होना किसी-न-किसी अंश में असाधन को जीवित रखना है। असाधन-युक्त साधन साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न नहीं होने देता। इस कारण प्रत्येक साधक को बड़ी ही सावधानीपूर्वक व्यक्तित्व को सुन्दर बनाते हुए उसकी दासता से मुक्त होना है।

देश, काल, वस्तु, व्यक्ति , अवस्था, परिस्थिति आदि से सम्बन्ध स्वीकार करना विवेक-विरोधी सम्बन्ध है, क्योंकि जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है एवं जिससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता सम्भव नहीं है उससे सम्बन्ध रखना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वस्तु, व्यक्ति के सम्बन्ध से लोभ, मोह और देश, काल, अवस्था एवं परिस्थिति आदि के सम्बन्ध से परिच्छिन्नता, जड़ता तथा काम आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। यदि विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग कर दिया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्लोभता, निर्मोहता, निष्कामता, अपरिच्छिन्नता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। इस दृष्टि से विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

आगे-पीछे का चिन्तन तथा वस्तु, व्यक्ति आदि का चिन्तन विवेक-विरोधी चिन्तन है, क्योंकि आगे-पीछे का चिन्तन सार्थक चिन्तन का तथा अचिन्तता का विघ्न है और वस्तु, व्यक्ति आदि का चिन्तन वस्तु, व्यक्ति में आसक्ति भले ही उत्पन्न कर दे, किन्तु चिन्तन मात्र से किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त तथा पर-प्रकाश्य वस्तुएँ हैं उनकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, चिन्तन-साध्य नहीं। इस कारण विवेक-विरोधी चिन्तन के त्याग में ही सार्थक चिन्तन

की अभिव्यक्ति और अचिन्तता की उपलब्धि निहित है, जो साधन-रूप है।

जिससे देश-काल की दूरी नहीं है,जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त तथा पर-प्रकाश्य नहीं है उसका चिन्तन ही सार्थक चिन्तन है। पर सार्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति व्यर्थ चिन्तन के त्याग में ही निहित है। व्यर्थ चिन्तन के साथ-साथ सार्थक चिन्तन करना सार्थक चिन्तन का लेप चढ़ाना है। वास्तव में तो जो किया जाता है वह चिन्तन नहीं है। चिन्तन वही है जो स्वतः होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जानते हैं जो विवेक-विरोधी चिन्तन से रहित हो जाते हैं। चिन्तन कर्म नहीं है, अपितु साध्य की प्रियता है। प्रियता आत्मीयता तथा नित्य सम्बन्ध से उदित होती है। अतः विवेक-विरोधी सम्बन्ध के त्याग में ही नित्य सम्बन्ध की स्वीकृति और नित्य सम्बन्ध की स्वीकृति में ही सार्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति स्वतः सिद्ध है। सार्थक चिन्तन श्रम-रहित साधन है। जो श्रम-रहित है वही अखण्ड है। इस दृष्टि से सार्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति में ही चिन्तन की सार्थकता सिद्ध होती है। अतः विवेक-विरोधी स्वीकृति, कर्म, सम्बन्ध तथा चिन्तन से रहित होने में ही असाधन का त्याग और साधन की अभिव्यक्ति निहित है।

(19) दर्शन और साधन

प्रत्येक दर्शन साधन की भूमि है। दार्शनिक भेद से ही साधन में भेद है, किन्तु साधन-तत्त्व में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार समस्त नदियाँ सागर में विलीन होकर एक हो जाती हैं उसी प्रकार समस्त साधन साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर एक हो जाते हैं।

इन्द्रिय-ज्ञान से दर्शन का आरम्भ होता है। इसी के आधार पर सृष्टि की स्वीकृति है। किन्तु इन्द्रिय-ज्ञान से जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है वही वस्तु उसी काल में बुद्धि-ज्ञान से इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा भिन्न प्रतीत होती है। इसी कारण इन्द्रिय-ज्ञान में संदेह उत्पन्न होता है। संदेह की वेदना जिज्ञासा जाग्रत करती है। जिज्ञासा की जागृति इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर उत्पन्न हुई कामनाओं को खा लेती है। सभी कामनाओं का नाश होते ही जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है और फिर बुद्धि से अतीत के ज्ञान से अभिन्नता हो जाती है। इन्द्रिय-ज्ञान बुद्धि-ज्ञान की अपेक्षा अल्प है, अर्थात् अधूरा ज्ञान है। अधूरे ज्ञान का प्रभाव अंकित हो जाना दार्शनिक दृष्टिकोण से असाधन है। असाधन के नाश में ही साधन की अभिव्यक्ति निहित है। साधक के जीवन में इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग भले ही हो, किन्तु इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव का कोई स्थान नहीं है। इसी कारण बुद्धि-ज्ञान से इन्द्रिय-ज्ञान पर विजयी होना साधन है।

इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव साधक में राग उत्पन्न करता है। राग-रूपी भूमि में ही भोग-रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है, जिसपर सुख-दुःख रूपी अनेक फल लगते हैं। जब साधक सुख की दासता तथा दुःख के भय से पीड़ित होता है तब उसे इन्द्रिय-ज्ञान में स्वतः सन्देह होता है, जिसके होते ही साधक बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव से प्रभावित होने लगता है। ज्यों-ज्यों बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों इन्द्रिय-ज्ञान अपने आप मिटता जाता है। ज्यों-ज्यों इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटता जाता है, त्यों-त्यों राग वैराग्य में विलीन होता जाता है। सर्वांश में इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटते ही साधक राग-रहित हो जाता है। राग-रहित भूमि में

ही योग-रूपी वृक्ष की अभिव्यक्ति होती है, जिस पर तत्त्व-ज्ञान रूपी फल लगता है, जो प्रेम-रस से पूर्ण है।

इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर जो सृष्टि सत् प्रतीत होती है वही बुद्धि-ज्ञान से सतत् परिवर्तनशील प्रतीत होती है। सृष्टि में सद्भाव भौतिक दर्शन का पोषक है और सृष्टि की अनित्यता अध्यात्म दर्शन को जन्म देती है। भौतिक दर्शन में कर्त्तव्य-परायणता अर्थात् सुख-दुःख का सदुपयोग साधन है और चिर-शान्ति एवं दुःख-निवृत्ति तथा सुन्दर समाज का निर्माण साध्य है। सुख-दुःख का भोग असाधन है। सुख-दुःख की उत्पत्ति प्राकृतिक विधान है। सुख-दुःख में जीवन-बुद्धि प्रमाद है। समस्त विश्व एक जीवन है, यही भौतिक दर्शन है। बाह्य अनेक भेद, अर्थात् आकृति, रंग, रहन-सहन, बोल-चाल इत्यादि भिन्न होने पर भी वास्तव में हम सब एक हैं। जिस प्रकार प्रत्येक लहर सागर से अभिन्न है उसी प्रकार शरीर विश्व से अभिन्न है। शरीर विश्व के काम आ जाय, हृदय प्रीति से भरा रहे और अहम् अभिमान-शून्य हो जाय,यही भौतिक दर्शन की पराकाष्ठा है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार सुख उदारता का और दुःख त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। इतना ही नहीं, उदारता त्याग को पुष्ट करती है और त्याग उदारता को सुरक्षित रखता है। उदारता और त्याग के अपना लेने पर सुखियों और दुःखियों में वास्तविक एकता हो जाती है, जिसके होते ही समस्त संघर्ष अपने आप मिट जाते हैं; कारण कि वैर-भाव शेष नहीं रहता। साधक के जीवन में करुणा तथा प्रसन्नता की अभिव्यक्ति हो जाती है। करुणा स्वार्थभाव को खा लेती है और प्रसन्नता निष्कामता को जन्म देती है। स्वार्थ-भाव के गलते ही सुखासक्ति अपने आप मिट जाती है और निष्कामता के आते ही दुःख का भय सदा के लिए विदा हो जाता है। इस

दृष्टि से उदारता और त्याग विश्व-शान्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय है। भौतिक दर्शन के आधार पर किया हुआ साधन भी साधक को चिरशान्ति से अभिन्न करने तथा सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु है।

जब साधक चिर-शान्ति में अपने को सन्तुष्ट नहीं पाता तब भौतिक दर्शन स्वतः अध्यात्म दर्शन में विलीन हो जाता है, क्योंकि दर्शन अनेक और जीवन एक है। शान्ति में सन्तुष्ट होने से अहम्-भाव रूपी अणु शेष रहता है, जिसके रहने पर भेद नाश नहीं होता। भेद के रहते हुए सर्वांश में अभाव का अभाव सम्भव नहीं है। इसी कारण अध्यात्म दर्शन की आवश्यकता शेष रहती है। अध्यात्म दर्शन के साधन का आरम्भ इन्द्रिय-ज्ञान में सन्देह उत्पन्न होने पर होता है। सन्देह की वेदना जिज्ञासा की जननी है। जिज्ञासा की जागृति ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों कामनाओं की निवृत्ति अपने आप होती जाती है। जिस काल में सर्वांश में कामनाएँ मिट जाती हैं उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति शान्ति से असंग कर स्वाधीनता से अभिन्न कर देती है। स्वाधीनता में जड़ता की गंध भी नहीं रहती, क्योंकि पराधीनता का अन्त होते ही जड़ता चिन्मयता में और मृत्यु अमरत्व में विलीन हो जाती है। यही अध्यात्म दर्शन का साध्य है।

अध्यात्म दर्शन के आधार पर सन्देह की वेदना से साधन का आरम्भ होता है और निस्सन्देहता में साधन की पूर्णता सिद्ध होती है। इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर जिस सृष्टि को स्वीकार किया था और बुद्धि-ज्ञान के आधार पर जिसमें सतत् परिवर्तनशीलता का दर्शन किया था "वह सृष्टि नहीं है"- इस सम्बन्ध में अध्यात्म-दर्शन का साधक निस्सन्देह हो जाता है और सृष्टि के होने, न-होने में जो सदैव ज्यों-का

त्यों अपनी महिमा में आप स्थित है उसके होने में निस्सन्देह होता है, अर्थात् सृष्टि की अस्वीकृति और अनन्त की स्वीकृति में ही अध्यात्म-दर्शन का साधक निस्सन्देह हो जाता है। जिसके होने में निस्सन्देह है उसका योग, बोध तथा प्रेम स्वतः सिद्ध है। योग शान्ति तथा सामर्थ्य का प्रतीक है। बोध स्वाधीनता, चिन्मयता तथा अमरत्व का प्रतीक है और प्रेम आनन्द तथा अगाध, अनन्त रस का प्रतीक है। दार्शनिक दृष्टि से योग, ज्ञान तथा प्रेम में विभाजन नहीं हो सकता, क्योंकि तीनों ही अनन्त की अभिव्यक्ति हैं। तीनों की एकता में ही दर्शन की परावधि है।

(20) जीवन और साधन

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन वास्तविक जीवन का साधन है, और कुछ नहीं। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जो वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि में जीवन-बुद्धि स्वीकार नहीं करते। जीवन उसे नहीं कह सकते जिसमें अभाव का अभाव न हो। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति अभाव-रूप है। अतः किसी भी परिस्थिति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

साधन-रहित जीवन प्राणी को मृत्यु की ओर ले जाता है और साधन-युक्त जीवन उसे अमरत्व से अभिन्न कर देता है। साधन का जीवन से और जीवन का साधन से विभाजन नहीं हो सकता। जो साधन जीवन के किसी एक अंश में प्रतीत होता है वह वास्तव में साधन के भेष में असाधन ही है, क्योंकि साधक का समस्त जीवन साधन है अथवा यों कहो कि साधन ही साधक का जीवन है, क्योंकि साधन से अतिरिक्त साधक का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही साधन की पूर्णता निहित है। परिस्थिति का सदुपयोग साधक को परिस्थितियों की दासता से मुक्त कर सभी परिस्थितियों से अतीत जो वास्तविक जीवन है उससे अभिन्न करने में समर्थ है। अतः प्रत्येक परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग, साधन और जीवन में एकता सिद्ध करने में समर्थ है। यह तभी सम्भव होगा जब प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग सुख की आशा से रहित होकर किया जाय। सुख की आशा से रहित प्रवृत्ति परस्पर में स्नेह तथा विश्वास की दृढ़ स्थापना करती है और अपने अधिकार का त्याग तथा दूसरों के अधिकार की रक्षा कराने में समर्थ है। दूसरों के अधिकार की रक्षा विद्यमान राग के नाश में हेतु है और अपने अधिकार का त्याग नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देता। विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय और नवीन राग की उत्पत्ति न हो तो साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-रहित होकर चिर-शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है और फिर साधन और जीवन में भेद नहीं रहता।

साधन और जीवन में एकता प्राप्त करने के लिए किसी अप्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि साधन-दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। परिस्थिति-परिवर्तन की कामना उन्हीं प्राणियों में रहती है जो परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं, उसे साधन-सामग्री नहीं जानते। यद्यपि परिस्थिति-परिवर्तन के लिए भी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही करना पड़ता है, किन्तु परिस्थिति को ही जीवन मान लेने से बेचारा प्राणी अपने को परिस्थितियों की दासता में आबद्ध कर लेता है और फिर अनेक प्रकार के अभावों से पीड़ित रहता है, क्योंकि सभी परिस्थितियाँ स्वरूप से अभाव रूप ही

हैं। साधन बुद्धि से परिस्थिति का सदुपयोग अभाव का अभाव करने में समर्थ है। पर यह तभी सम्भव होगा जब साधन में ही जीवन स्वीकार कर लिया जाय। साधन से भिन्न भी जीवन है, इस स्वीकृति का अत्यन्त अभाव अनिवार्य है।

जीवन को साधन और साधन को जीवन बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान कर्त्तव्य कर्म को भौतिक दृष्टि से सुन्दर समाज के निर्माण के लिए और विश्व-प्रेम की प्राप्ति के लिए सावधानीपूर्वक, साधन-बुद्धि से सम्पन्न किया जाय। अध्यात्म दृष्टि से वर्तमान कर्म को राग-निवृत्ति तथा सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति एवं अपने ही में अपने अविचल प्रेम की प्राप्ति के लिए साधन-बुद्धि से किया जाय; उसमें सुख की आशा का लेश भी न हो,तभी अध्यात्म दृष्टि से जीवन और साधन में एकता हो सकती है।

आस्तिक दृष्टि में प्रत्येक वर्तमान कर्त्तव्य कर्म अपने प्यारे की पूजा है, और कुछ नहीं। यह नियम है कि जिसकी पूजा की जाती है, पुजारी पूजा के अन्त में स्वतः उसी का प्रेम हो जाता है। अतः साधन और जीवन में एकता होते ही सभी साधकों को प्रेम की प्राप्ति होती है। प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता तथा साधन की पूर्णता निहित है। इस दृष्टि से जीवन साधन और साधन जीवन है। प्रत्येक साधक साधन होकर ही साधन-तत्त्व से अभिन्न होता है, जो वास्तव में साधन और जीवन की अभिन्नता है।

सभी दृष्टियों से सभी साधकों को प्राप्त करने योग्य एकमात्र प्रेम ही है, क्योंकि प्रेम का आरम्भ चाहे जैसे हो किन्तु प्रेम स्वभाव से ही विभु तथा अनन्त है। अतः प्रेम की प्राप्ति के लिए सभी साधकों को अपना समस्त जीवन साधन से अभेद करना अनिवार्य है।

(21) विश्वास और साधन

बीज-रूप से विश्वास प्राणी-मात्र में विद्यमान है, क्योंकि कोई ऐसा व्यक्ति है ही नहीं, जिसमें किसी-न-किसी प्रकार का विश्वास न हो।

विवेक-विरोधी विश्वास असाधन और जिस विश्वास में विवेक का विरोध न हो- समर्थन हो अथवा न हो- साधन-रूप है।

अपने को देह मान लेना अथवा किसी वस्तु को अपना मान लेना विवेक-विरोधी विश्वास है। विवेक-विरोधी विश्वास ने ही प्राणी को लोभ, मोह आदि अनेक विकारों में आबद्ध कर दिया है। अतः विवेक-विरोधी विश्वास प्रत्येक साधक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग करते ही साधक में जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो अविवेक-जनित कामनाओं को खा लेती है। कामनाओं का अन्त होते ही जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है। पर यह रहस्य वे ही जानते हैं जिन साधकों ने विवेक-विरोधी विश्वास का अन्त कर दिया है।

विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग निज विवेक के आदर में ही निहित है। उसके लिए किसी अन्य अभ्यास की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक स्वीकृति अस्वीकृति से नाश हो जाती है, जिसके होते ही अपने आप साधन का निर्माण हो जाता है; क्योंकि असाधन के त्याग में ही साधन निहित है।

प्रत्येक व्यक्ति में करने की और जानने की रुचि है। करने की रुचि की पूर्ति-निवृत्ति के लिए ही कर्त्तव्यपालन का प्रश्न साधक में स्वतः उत्पन्न होता है, क्योंकि कर्त्तव्यनिष्ठ हुए बिना विद्यमान राग की निवृत्ति सम्भव नहीं है। राग-रहित होने में ही समस्त साधनों की अभिव्यक्ति निहित है।

विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग जिज्ञासा की जागृति में समर्थ है। जिज्ञासा की जागृति कामनाओं की निवृत्ति में हेतु है और कामनाओं का अन्त होते ही जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से जानने की रुचि की पूर्ति के लिए भी विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग ही मुख्य साधन है। विवेक-विरोधी विश्वास के रहते हुए जो प्राणी अपने को सुख-दुःख का भोगी मानता है, वही प्राणी विवेक-विरोधी विश्वास का नाश होने पर अपने में जिज्ञासु-भाव स्वीकार करता है,अर्थात् सुख-दुःख का भोग न करके उनकी वास्तविकता जानने में तत्पर हो जाता है।

अपने में जिज्ञासु-भाव की स्वीकृति दो प्रश्न उत्पन्न करती है—एक तो यह कि "सृष्टि क्या है?" और दूसरा "मैं क्या हूँ ?" इन दोनों प्रश्नों का हल ही अध्यात्म जीवन है। साधक में जिज्ञासु-भाव की स्वीकृति सन्देह की वेदना से उत्पन्न होती है। यह नियम है कि स्वीकृति के अनुरूप कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर स्वीकृति सदा के लिए मिट जाती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-विश्वास भी साधन-निर्माण में बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। कर्त्तव्य-विश्वास और साधक का अपने में विश्वास होने पर ही कर्त्तव्य-परायणता वर्तमान की वस्तु होती है। कर्त्तव्य वही है जिसके करने में साधक सर्वदा समर्थ तथा स्वाधीन है और जिसका परिणाम राग-रहित होना है। राग रहित होते ही कर्त्तव्य का प्रश्न ही शेष नहीं रहता और फिर जो होना चाहिए वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य- विश्वास उसी समय तक जीवित रहता है जिस समय तक किसी-न- किसी प्रकार का राग शेष है। राग के रहते हुए यदि कर्त्तव्य में विश्वास न किया जाय तो अकर्त्तव्य उत्पन्न हो जायगा, जो असाधन है। अकर्त्तव्य के रहते हुए कोई भी व्यक्ति राग-

रहित नहीं हो सकता, अपितु नवीन राग की उत्पत्ति ही होती रहती है।

इस कारण प्रत्येक साधक को राग-रहित होने के लिए कर्त्तव्य में विश्वास करना अनिवार्य है। कर्त्तव्य-पालन के लिए जिस वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता एवं विधान की आवश्यकता है वह सभी साधकों को स्वतः प्राप्त है। यदि ऐसा न हो तो कर्त्तव्य-पालन का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। कर्त्तव्य-पालन की सामग्री किस कर्त्तव्य का फल है ? इसका निर्णय यही हो सकता है कि जिसने साधन-सामग्री प्रदान की है उसने अपने को इतना छिपाया है कि उस तक किसी की बुद्धि नहीं पहुँचती। इतना ही नहीं, प्रत्येक कर्त्तव्यनिष्ठ साधक को कर्त्तव्य पालन की सामग्री अपनी ही प्रतीत होती है। यद्यपि विवेक-दृष्टि से कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है और सामूहिक वस्तुएँ भी अपने को अपने आप प्रकाशित करने में समर्थ नहीं हैं। इन सब कारणों से यह विश्वास स्वतः होता है कि जिसने सब कुछ दिया है उसकी स्वीकृति अनिवार्य है। भले ही उसकी स्वीकृति विवेक-सिद्ध न हो, किन्तु उसकी अस्वीकृति में विवेक का समर्थन नहीं है। जिसकी अस्वीकृति में विवेक का समर्थन नहीं है, उसमें अविचल श्रद्धा तथा विश्वास करना साधक के लिए स्वाभाविक है। उस विश्वास को ही उसका विश्वास कहते हैं कि जिसके सम्बन्ध में कोई कुछ नहीं जानता, किन्तु उसकी माँग जीवन में है। यदि ऐसा न होता तो प्रत्येक परिस्थिति से ऊपर उठने की रुचि न होती, प्राणी प्राप्त परिस्थिति में सन्तुष्ट हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि सभी परिस्थितियों से अतीत जो है और सभी परिस्थितियाँ जिसके किसी अंश मात्र में हैं उस अनन्त में विश्वास करना परम आवश्यक है।

जब तक विश्वासी विश्वास में और अपने में भेद पाता है तब तक विश्वास जीवन नहीं है। जब तक विश्वास जीवन नहीं है तब तक विश्वास सजीव नहीं है। विश्वास के सजीव बिना हुए विश्वास-पात्र से न तो सम्बन्ध ही हो सकता है और न आत्मीयता ही। नित्य सम्बन्ध के बिना मधुर स्मृति और आत्मीयता के बिना परम प्रेम की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। अतः विश्वासी को विश्वास से भिन्न अपना कोई अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करना चाहिए।

जिस वास्तविक जीवन की प्राप्ति जिज्ञासु को दर्शन के द्वारा होती है, उसी जीवन की प्राप्ति विश्वासी को विश्वास के द्वारा होती है और वही जीवन कर्त्तव्यनिष्ठ को कर्त्तव्यपरायणता से प्राप्त होता है। जिसे प्राप्त करना है वह सभी का सब कुछ है। इस कारण प्रत्येक साधक अपने-अपने साधन द्वारा साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर उसे प्राप्त करता है।

साधन में विश्वास का बहुत बड़ा स्थान है। जाने हुए में जिज्ञासु को विश्वास करना ही पड़ता है और माने हुए में विश्वासी को तथा किए हुए में कर्त्तव्यनिष्ठ को विश्वास करना पड़ता है। विकल्प-रहित विश्वास और ज्ञान के प्रभाव में कोई अन्तर नहीं होता। यदि ऐसा न होता तो स्वीकृति के अनुरूप न तो प्रवृत्ति होती और न प्रतीति ही होती। साधन-रूप सभी स्वीकृतियाँ कर्त्तव्य की प्रतीक है। कर्त्तव्य में अविचल विश्वास ही कर्त्तव्य-परायणता को सजीव बनाता है। विश्वास के बिना न तो साधन का ही आरम्भ हो सकता है और न असाधन का त्याग ही। जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते उससे सम्बन्ध जोड़ने में भी विश्वास ही हेतु है, अर्थात् आस्तिकता का मूल विश्वास ही है।

विवेक-विरोधी विश्वास के अतिरिक्त अन्य सभी विश्वास साधन-रूप हैं- चाहे अपने में हो, कर्त्तव्य में हो, गुरु में हो

अथवा उसमें हो जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते उसमें विश्वास होने पर फिर किसी अन्य विश्वास की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि उसके अतिरिक्त सभी विश्वास साधन-रूप होने से आदरणीय हैं, किन्तु नित्य नहीं हैं। कर्त्तव्य-विश्वास कर्त्तव्य-पालन के पश्चात् अपेक्षित नहीं रहता, क्योंकि कर्त्तव्यपरायणता राग को खाकर कर्तृत्व के अभिमान का अन्त कर देती है और फिर करना होने में बदल जाता है। जब विश्वासी स्वयं अनन्त का विश्वास हो जाता है तब उसे अपने में विश्वास की अपेक्षा नहीं रहती और जाने हुए का आदर करने पर गुरु-विश्वास आवश्यक नहीं रहता, क्योंकि बाह्य गुरु की अपेक्षा तभी तक रहती है जब तक साधक निज ज्ञान का सर्वांश में आदर नहीं करता।

विवेक-विरोधी विश्वास आसक्ति को और विवेक के अनुरूप विश्वास अनासक्ति को और अनन्त का विश्वास प्रीति को प्रदान करने में सर्वदा समर्थ है। अतः असाधन-रूप विश्वास का त्याग कर साधन-रूप विश्वास को अपनाकर प्रत्येक साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधन-तत्त्व से अभिन्न हो सकता है।

(22) साधन-विधि

प्रत्येक साधन-विधि अनन्त के मंगलमय विधान से निर्मित है। जिस प्रकार प्रत्येक लहर का सागर से अभेद है उसी प्रकार प्रत्येक साधन-विधि अनन्त के विधान से अभिन्न है। प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता का विधिवत् सदुपयोग ही साधन है, कारण कि साधन का सम्बन्ध किसी अप्राप्त परिस्थिति से नहीं है। यदि ऐसा न होता तो प्रत्येक साधक साधन करने में समर्थ न होता। प्राकृतिक नियम के अनुसार

प्रत्येक साधक विधिवत् साधन करने में सर्वदा समर्थ तथा स्वाधीन है। साधन की पूर्णता कामना-निवृत्ति, जिज्ञासा-पूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति में निहित है। अतः जिस विधि से साधन की पूर्णता सिद्ध हो वही विधि अनुसरणीय है।

प्रत्येक साधक को अनन्त के मंगलमय विधान का प्रतीक निज विवेक प्राप्त है । ऐसा कोई साधक हो ही नहीं सकता जिसमें बीज-रूप से विवेकशक्ति, भावशक्ति तथा क्रिया शक्ति विद्यमान न हो। विद्यमान शक्तियों की एकता में ही साधन-विधि निहित है। अतः साधक की प्रत्येक प्रवृत्ति भाव से भावित हो और भाव विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो, तभी वह साधन-सम्पन्न होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न हो सकता है।

समस्त असाधन अविवेक-सिद्ध हैं, अर्थात् निज विवेक के अनादर से ही असाधनों की उत्पत्ति होती है। अतः विवेक का आदर करते ही समस्त असाधन स्वतः मिट जाते हैं।

अविवेक से अपवित्र भाव और अपवित्र भाव से अशुद्ध कर्म होने लगता है, क्योंकि अविवेक बेचारे प्राणी को देहाभिमानी में आबद्ध कर उसे स्वार्थरत बना देता है, जिससे वह अपने सुख की आशा में ही दिन-रात उलझा रहता है और कामना-पूर्ति को ही अपना सर्वस्व मान लेता है। यह नियम है कि कामना-पूर्ति को ही जीवन मान लेने पर प्राणी दूसरों के अहित से पीड़ित नहीं होता। उसे तो वह सुख प्यारा लगता है जिसकी उत्पत्ति भले ही किसी के दुःख तथा अहित से हो। प्राकृतिक विधान की दृष्टि से जिस सुख की उत्पत्ति किसी के दुःख तथा अहित से होती है वह सुख अन्त में घोर दुःख में बदल जाता है और सुख-भोगी का अहित ही होता है। इस कारण अविवेक का अन्त करना अनिवार्य है।

निज विवेक का आदर करते ही देहाभिमान गल जाता है। उसके गलते ही निर्वासना आ जाती है, जिसके आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। निर्वासना पराधीनता को, स्वाधीनता में बदल देती है। स्वाधीनता जड़ता से मुक्त कर चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देती है। वैर-भाव का अन्त होते ही समस्त संघर्ष अपने आप मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही चिर-शान्ति की स्थापना हो जाती है, जो सामर्थ्य की प्रतीक है। सामर्थ्य का सम्पादन होते ही जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है, जो करने योग्य नहीं है उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती। अकर्त्तव्य का अन्त और कर्त्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति हो जाने पर समस्त भय अपने आप मिट जाते हैं। भय के अन्त में ही विषमता का सर्वांश में नाश हो जाता है अर्थात् समता का प्राकट्य होता है, जो मुदिता से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से विवेक का आदर समस्त साधनों का आश्रय है।

प्रत्येक व्यक्ति निज विवेक के प्रकाश में अपने प्रति होने वाली बुराइयों को जानता है। इससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि प्राप्त विवेक में दोषों का ज्ञान विद्यमान है। अपने जाने हुए दोष के त्याग में निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वतः सिद्ध है। निर्दोषता अपवित्र भाव का अन्त कर पवित्र भाव को जन्म देती है और फिर समस्त कर्म दिव्य हो जाते हैं, जिनके होते ही क्रियाशक्ति भावशक्ति में और भावशक्ति विवेकशक्ति में विलीन हो जाती है, जो निस्सन्देहता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति में हेतु है।

प्रत्येक साधक में कर्म, चिन्तन और स्थिति तीन अवस्थाएँ क्रमशः रहती ही हैं। कर्म की अपेक्षा चिन्तन में और चिन्तन की अपेक्षा स्थिति में अधिक स्वाभाविकता तथा व्यापकता है। इसी कारण समस्त कर्म चिन्तन में और चिन्तन

स्थिति में विलीन होते हैं। कर्म का उद्‌गम-स्थान चिन्तन और चिन्तन का उद्‌गम-स्थान शाश्वत शान्ति अर्थात् चिर-विश्राम है। चिर-विश्राम से चिन्तन तथा कर्म की ओर गतिशील होने में प्राणी असीम से सीमित, चिन्मय से जड़ता और स्वाधीनता से पराधीनता की ओर अग्रसर होता है, जो वास्तव में असाधन है।

साधन-विधि की दृष्टि से साधक को कर्म से चिन्तन और चिन्तन से चिर-विश्राम की ओर उत्तरोत्तर बढ़ना है। वह तभी सम्भव होगा जब साधक साध्य ही के नाते वर्तमान कर्त्तव्य कर्म को सुख की आशा से रहित होकर करने का स्वभाव बना ले। यह नियम है कि कर्ता जिस भावना से प्रेरित होकर कर्म करता है अन्त में वह उसी की स्मृति हो जाती है अथवा यों कहो कि उसे उसकी स्मृति प्राप्त होती है जिसके नाते कर्म किया था। जो कर्म चिन्तन में विलीन नहीं होता वह कर्म भोग है, साधन नहीं। साधक के जीवन में सुख-भोग का कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि सुख-भोग की अपेक्षा सेवा में कहीं अधिक मधुर रस है। कर्म का उपयोग केवल करने का राग मिटाने के लिए और सुन्दर समाज के निर्माण में ही है, पर वह तभी हो सकता है जब कर्म सेवा-भाव से सम्पादित किया जाय, उसमें स्वार्थ-भाव की गंध भी न रहे। सेवा-भाव की जागृति तभी होती है जब साधक अपने साध्य में अविचल श्रद्धा तथा विश्वास रखता है। साध्य वही है जिसकी उसने सत्ता स्वीकार की है।

साधक का सम्बन्ध किसी परिस्थिति से नहीं रहता, अपितु अपने साध्य से ही रहता है। इसी कारण वह प्रत्येक कर्म के द्वारा अपने साध्य की पूजा करता है और पूजा के अन्त में साधक स्वयं साध्य का चिन्तन होकर साध्य की अहैतुकी कृपा से चिर-विश्राम पाकर साध्य की प्रीति हो जाता है।

साधन-विधि के अनुसार साधक के जीवन में किसी से भी सुख की आशा रखने का कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि सुख की आशा उसे पराधीनता, जड़ता, असमर्थता आदि दोषों में आबद्ध कर देती है। इतना ही नहीं, जिनसे वह सुख की आशा करता है उनका भी ह्रास ही होता है। सुख देने की लालसा ही वास्तव में साधन-रूप लालसा है। वह लालसा तभी जाग्रत होती है जब किसी से सुख की आशा न की जाय। सुख की आशा की उत्पत्ति अविवेक-सिद्ध है, जो वास्तव में असाधन ही है। साधक अपने को शरीर मानकर विश्व और व्यक्ति मानकर समाज के हित में रत रहता है। उसका परिणाम यह होता है कि शरीर विश्व से और व्यक्ति समाज से अभिन्न हो जाता है। किन्तु जब साधक शरीर से असंग तथा व्यक्तित्व के अभिमान से रहित हो जाता है तब वह साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है।

समस्त विकारों की उत्पत्ति सुख की आशा में ही है और समस्त साधनों की अभिव्यक्ति सुख देने की लालसा में निहित है। अपने को देह मानकर सृष्टि से, व्यक्ति मानकर समाज से और जीव मान कर प्रभु से प्राणी प्रमादवश सुख की आशा कर बैठता है। यद्यपि साधनयुक्त जीवन इतना सुन्दर जीवन है कि अनन्त की अहैतुकी कृपा ने उसका निर्माण सृष्टि, समाज और अनन्त को रस देने के लिए ही किया है, परन्तु प्राणी साधननिष्ठ न होकर अपने को सुख की आशा में आबद्ध कर लेता है।

सुख के भोगी से प्राणी-मात्र भयभीत हो जाता है, क्योंकि हिंसा तथा प्रमाद के बिना सुख-भोग की सिद्धि ही नहीं होती। परन्तु जब प्राणी सुख की आशा से रहित होकर सुख देने की लालसा को ही अपना लेता है तब अचाह होकर

समस्त सृष्टि को अभय कर देता है, उदारतापूर्वक समाज़ के काम आ जाता है और प्रेम होकर अनन्त को रस प्रदान करने में समर्थ होता है।

चाह-रहित होते ही शरीर और विश्व में एकता हो जाती है। उदारता आते ही व्यक्ति और समाज में अभिन्नता हो जाती है और प्रेम की अभिव्यक्ति होते ही सब प्रकार की दूरी तथा भेद मिट जाता है, क्योंकि प्रेम प्रेमास्पद का ही स्वभाव है। इस दृष्टि से विधिवत् साधन करने से सभी साधक साधन होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न हो सकते हैं।

(23) साधन-क्रम

साधनयुक्त जीवन में अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्पों का कोई स्थान ही नहीं है। इस कारण अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्पों का त्याग करना अनिवार्य है। साधन का आरम्भ अशुद्ध संकल्पों के त्याग में ही निहित है, क्योंकि उनका त्याग बिना किए किसी भी पद्धति के अनुसार साधन का आरम्भ नहीं हो सकता, क्योंकि अशुद्ध संकल्प असाधन की भूमि है।

किसी के अहित में अपना हित, किसी के ह्रास में अपना विकास, किसी के दुःख में अपना सुख मान लेना ही अशुद्ध संकल्प है, जो अविवेक-सिद्ध है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्त्तव्य-विज्ञान की दृष्टि से यह निर्विवाद सत्य है कि दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है वह कालान्तर में कई गुना अधिक होकर अपने प्रति स्वतः हो जाता है। इस कारण किसी के अहित में अपना हित स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अशुद्ध संकल्पों का त्याग करते ही अहिंसा, क्षमाशीलता, निर्वैरता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होने लगती है, क्योंकि अशुद्ध संकल्पों के त्याग में ही शुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति निहित है। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता उसके जीवन में किसी भी नवीन दोष की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु उत्पन्न हुए दोषों की निवृत्ति ही हो जाती है। इस दृष्टि से साधक को किसी भी परिस्थिति में अशुद्ध संकल्प नहीं करना है।

अनावश्यक संकल्प साधक के जीवन में शान्ति की स्थापना नहीं होने देता। शान्ति के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती और सामर्थ्य के बिना न तो कर्त्तव्यपरायणता ही प्राप्त होती है और न सर्वांश में अकर्त्तव्य का ही नाश होता है, क्योंकि सामर्थ्यशाली वही है जिसके द्वारा जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगे और जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही न हो। अनावश्यक संकल्प ही वे हैं जिनका सम्बन्ध वर्तमान से न हो, जिनके पूरे करने का साधन उपलब्ध न हो, जिनकी पूर्ति के बिना रह सकते हों और जिनमें दूसरों का अहित हो। यह नियम है कि अनावश्यक संकल्पों का त्याग करते ही आवश्यक संकल्पों की पूर्ति अपने आप हो जाती है अथवा यों कहो कि अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्पों के त्याग में ही शुद्ध तथा आवश्यक संकल्पों की पूर्ति निहित है। आवश्यक तथा शुद्ध संकल्पों की पूर्ति में ही सुन्दर समाज का निर्माण तथा विद्यमान राग की वास्तविकता का परिचय हो जाता है। यदि साधक संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध न हो तो संकल्प-पूर्ति के अन्त में संकल्प-निवृत्ति अपने आप हो जाती है, क्योंकि संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता ही नवीन संकल्पों की जननी है। यद्यपि संकल्प-पूर्ति का सुख बड़ा ही मधुर है, परन्तु प्राणी को पराधीनता में

आबद्ध कर देता है। इस मधुर विष से बचने के लिए भी संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता का त्याग अनिवार्य है।

संकल्प-पूर्ति के सुख की अपेक्षा संकल्प-निवृत्ति की शान्ति कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि उसमें न तो पराधीनता ही है और न प्राप्त सामर्थ्य का व्यय ही होता है, अपितु आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति ही होती है। संकल्प-पूर्ति के सुख का भोगी तो असमर्थ हो ही जाता है, क्योंकि भोग की सिद्धि प्राप्त शक्ति के ह्रास में ही होती है और भोग्य वस्तु का नाश होने के कारण बेचारा भोगी पराधीनता में ही आबद्ध रहता है। इस दृष्टि से सुख-भोग की अपेक्षा शान्ति का कहीं अधिक महत्त्व है।

विचारशील साधक को संकल्प-निवृत्ति की शान्ति का सम्पादन तो करना है, परन्तु उसमें रमण नहीं करना है। क्योंकि शान्ति में रमण करने से अहम्-भाव का महत्त्व बढ़ता है। अहम्-भाव के रहते हुए साधन-तत्त्व से अभिन्नता सम्भव नहीं है। अतएव शान्ति से असंग होना अनिवार्य है। शान्ति की असंगता में ही स्वाधीनता और स्वाधीनता में ही चिन्मय जीवन की प्राप्ति निहित है, क्योंकि पराधीनता का अन्त होते ही जड़ता सदा के लिए मिट जाती है। इस दृष्टि से शान्ति से असंग होना परम आवश्यक है।

सुख की अपेक्षा शान्ति और शान्ति की अपेक्षा स्वाधीनता कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है। परन्तु स्वाधीनता में सन्तुष्ट होने पर अखण्ड रस की उपलब्धि तो होती है, किन्तु अगाध अनन्त नित-नव रस की माँग की उस समय तक पूर्ति नहीं होती जिस समय तक साधक स्वाधीनता को समर्पित कर परम प्रेम को प्राप्त नहीं कर लेता। प्रेम की प्राप्ति में ही साधन-तत्त्व से अभिन्नता हो सकती है। यद्यपि स्वाधीनता में

किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता परन्तु रस की वृद्धि के लिए प्रेम-प्राप्ति अनिवार्य है। प्रेम दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देता। दूरी के अभाव में नित्ययोग और भेद के अभाव में तत्त्व-ज्ञान स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से साधन का आरम्भ अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्पों के त्याग में और साधन की पूर्णता प्रेम की प्राप्ति में निहित है अथवा यों कहो कि साधन-तत्त्व से अभिन्न होने के लिए कामनाओं की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति अनिवार्य है।

(24) साधन और असाधन

करना, जानना और मानना, इन तीनों की वास्तविकता ही साधन है। करना वही है जिसे कर सकते हैं, जानना वही है जिसे जान सकते हैं और मानना उसी को है जिसकी आवश्यकता तो है, पर उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते।

करने में सेवा, त्याग तथा क्षमाशीलता मुख्य हैं। जानना उसी को है जिसके सम्बन्ध में अधूरा ज्ञान है, क्योंकि अधूरे ज्ञान में ही सन्देह उत्पन्न होता है और सन्देह की वेदना ही जिज्ञासा को जाग्रत करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को अपने और जगत् के सम्बन्ध में ही जिज्ञासा होती है, क्योंकि सभी साधक अपने तथा जगत् के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ जानते हैं। अब रही मानने की बात। मानना उसी को है जिसके सम्बन्ध में सुना तो है, पर जानते कुछ नहीं अथवा यों कहो कि जिसकी माँग तो स्वाभाविक हो, पर उसे इन्द्रिय तथा बुद्धि के द्वारा कभी अनुभव न किया हो।

सेवा वही कर सकता है जिसकी सभी के हित में रति है। त्याग वही कर सकता है जो संसार के स्वरूप को भली-भाँति जानता है और क्षमाशील वही हो सकता है जो

अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानता। सेवा, करुणा और प्रसन्नता की जननी है। करुणा सुख-भोग की रुचि को और प्रसन्नता नीरसता को खा लेती है। सुख-भोग की रुचि का नाश होते ही विद्यमान राग मिट जाता है और नीरसता का अन्त होते ही नवीन राग उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् सेवा साधक को राग-रहित करने में समर्थ है। त्याग चिर-शान्ति का प्रतीक है। चिर-शान्ति में ही सामर्थ्य, स्वाधीनता तथा अमरत्व निहित है। क्षमाशीलता प्रेम की प्रतीक है, क्योंकि क्षमाशीलता द्वेष की अग्नि को सदा के लिए बुझा देती है।

निज ज्ञान के प्रकाश में अपनी खोज करने पर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि देह मैं नहीं हूँ और न देह मेरी है। इस ज्ञान का प्रभाव समस्त आसक्तियों का अन्त कर अनासक्ति प्रदान करने में समर्थ है। अनासक्ति की अभिव्यक्ति होने पर 'मैं' जैसी वस्तु उस अनन्त की प्रीति में विलीन हो जाती है। आसक्ति-काल में व्यक्ति को संसार में सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता का भास होता है, जो इन्द्रिय-ज्ञान के सद्भाव का प्रभाव है। अधूरे ज्ञान में सद्भाव न रखना साधन है। इन्द्रिय-ज्ञान में सन्देह होने पर स्वतः जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो कामनाओं को खाकर अपने आप पूरी हो जाती है। जिज्ञासा के पूर्ति-काल में संसार की सत्यता शेष नहीं रहती।

जब साधक उसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है जिसकी उसे माँग है, तब उसमें उसका स्वतः विश्वास हो जाता है। विश्वास के होते ही नित्य सम्बन्ध अपने आप हो जाता है, जिसके होते ही स्मृति उदय होती है जो दूरी तथा भेद को खाकर साधन-तत्त्व से अभिन्न कर देती है। यह नियम है कि स्वीकृति में विश्वास, विश्वास में सम्बन्ध और

सम्बन्ध में आत्मीयता स्वतः सिद्ध है, जो प्रेम की प्रतीक है। ***प्रेम की प्राप्ति में ही साधन की पूर्णता निहित है।***

साधन के अतिरिक्त जो है वही असाधन है। असाधन में प्रवृत्ति तभी होती है जब व्यक्ति अपने दुःख तथा सुख का कारण वस्तु, व्यक्ति आदि को मान लेता है। सुख-दुःख अविवेक-सिद्ध हैं, और कुछ नहीं। अविवेक किसी और की देन नहीं है, निज विवेक के अनादर से स्वयं अविवेक को उत्पन्न कर लिया है। पर यह रहस्य वे ही साधक जानते हैं जो निज विवेक का आदर कर अविवेक का अन्त कर देते हैं।

अनन्त में दुःख है नहीं, सृष्टि दुःख दे सकती नहीं, क्योंकि जो स्वयं उत्पत्ति-विनाश-युक्त तथा पर-प्रकाश्य है वह कैसे दुःख दे सकती है! तो फिर अपने दुःख का कारण किसी और को मानना क्या असाधन नहीं है ? अर्थात् यह असाधन ही है। अपने दुःख का कारण किसी और को मानना हृदय में द्वेष की अग्नि प्रज्ज्वलित कर देता है। द्वेष के उत्पन्न होते ही क्षमाशीलता शेष नहीं रहती। क्षमाशीलता का अभाव होते ही वैर-भाव उत्पन्न होता है, जो संघर्ष का मूल है।

अपने दुःख का कारण किसी और को मानना अविवेक-सिद्ध है, और कुछ नहीं। अविवेक अपना ही बनाया हुआ दोष है, किसी और का दिया हुआ नहीं है, इस कारण उसके मिटाने का दायित्व भी अपने पर है। हाँ, यह अवश्य है कि अविवेक का अन्त करने के लिए प्रत्येक साधक को अनन्त की अहैतुकी कृपा से विवेक स्वतः प्राप्त है। इस दृष्टि से प्राप्त विवेक का अनादर ही समस्त असाधनों का मूल है। पर प्राणी प्रमादवश अपने दुःख का कारण अपने को न मानकर दूसरों को मान बैठता है, जिसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है। यहाँ तक कि जिस दुःख को स्वयं मिटा सकता है उसके लिए

पराधीन हो जाता है। पराधीन होने पर दुःख मिटने की तो कौन कहे, प्रत्युत दुःख उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है।

जो प्राणी अपने दुःख का कारण दूसरे को मानता है वही अपने सुख के लिए भी दूसरों की ही आशा करता है, अर्थात् बेचारा अपने को दुःख तथा सुख के लिए पराधीन मान लेता है। विवेक-दृष्टि से पराधीनता के समान अन्य कोई दुःख नहीं है। पराधीनता में जीवन है, उससे कुछ मिल सकता है- इस धारणा के समान और कोई असाधन हो ही नहीं सकता, क्योंकि पराधीनता ने ही प्राणी को जड़ता में आबद्ध कर चेतना से विमुख कर दिया। इतना ही नहीं, पराधीनता में ही लोभ, मोह, काम, क्रोध, दीनता, अभिमान आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

प्रत्येक असाधन अनेक असाधनों को जन्म देता है। इस दृष्टि से यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि जब तक जीवन में आंशिक असाधन भी प्रतीत होता है, तब तक समस्त असाधन मौजूद हैं। जिस प्रकार प्रत्येक बीज में अगणित वृक्ष विद्यमान हैं उसी प्रकार प्रत्येक असाधन में अनेक असाधन मौजूद हैं। सर्वांश में असाधन का नाश होने पर ही असाधनों का नाश होता है।

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, ज्ञान-अज्ञान, विश्वास-अविश्वास का द्वन्द्व भी असाधन-रूप ही है, क्योंकि असाधन का अन्त होते ही द्वन्द्वात्मक स्थिति शेष नहीं रहती। अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को मानने में ही राग-द्वेष उत्पन्न होता है। राग पराधीनता को और द्वेष हिंसा को जन्म देता है। अतः अपने सुख-दुःख का कारण किसी और को मानना असाधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जब साधक अपने सुख-दुःख का कारण किसी और को नहीं मानता है तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक त्याग से राग का

और प्रेम से द्वेष का नाश करने में समर्थ होता है। राग का नाश होते ही पराधीनता स्वाधीनता में और द्वेष का नाश होते ही क्रोध क्षमाशीलता में तथा हिंसा अहिंसा में विलीन हो जाती है। स्वाधीनता समस्त दिव्य गुणों की भूमि है और क्षमाशीलता तथा अहिंसा में ही प्रेम की अभिव्यक्ति है। स्वाधीनता का रस अखण्ड है और प्रेम का रस अनन्त है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को पराधीनता का नाश और स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति के लिए तत्पर रहना अनिवार्य है। स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति के लिए ही प्राणी को साधन-युक्त जीवन मिला है। विवेक के आदर में समस्त असाधनों की निवृत्ति और साधनों की अभिव्यक्ति निहित है, जो मानव-मात्र को अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः प्राप्त है।

(25) साधन और सत्संग

सत्संग स्वयं साधन है, क्योंकि जाने हुए असत् के त्याग में ही सत् का संग है। यह नियम है कि जिस ज्ञान में असत् का ज्ञान निहित है उसी ज्ञान में असत् के त्याग की सामर्थ्य भी विद्यमान है। अतः प्रत्येक साधक को अपने जाने हुए असत् का त्याग कर सत् का संग करना अनिवार्य है।

असत् के त्याग से ही असत् की निवृत्ति और सत् के संग में ही सत् की प्राप्ति निहित है अथवा यों कहो कि असत् की निवृत्ति और सत् की प्राप्ति युगपद् है। असत् का ज्ञान सर्वदा सत् है। इसी कारण असत् को असत् जान लेने पर उसकी निवृत्ति और सत् की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। सत् उसे नहीं कहते जो कभी भी अप्राप्त हो अर्थात् सत् सर्वदा प्राप्त है। जो सर्वदा प्राप्त है उससे देश-काल की दूरी हो ही नहीं सकती। जिससे देश-काल की दूरी संभव नहीं है वह स्वरूप से ही अविनाशी है। अविनाशी का कोई त्याग नहीं

कर सकता। जिसका त्याग नहीं हो सकता उसमें प्रेम हो सकता है। अतः सत् के प्रेम में ही सत् की अभिव्यक्ति निहित है।

सत् के प्रेम को असत् की आसक्तियों ने आच्छादित कर दिया है। असत् का ज्ञान असत् की आसक्तियों को खा लेता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक सत् के प्रेम को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से जाने हुए असत् का त्याग कर सत् के संग में ही समस्त साधन निहित हैं।

यद्यपि अपने-अपने जाने हुए असत् के त्याग करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ हैं परन्तु निज ज्ञान का आदर न करने से बेचारा साधक अपने को असमर्थ मान लेता है। ऐसी दशा में उसे प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में अपने विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुए असत् पर व्यक्तिगत रूप से विचार करना अनिवार्य है। जब साधक अपनी दृष्टि से अपने दोष को देख लेता है तब उसमें जाने हुए दोषों के त्याग की लालसा जाग्रत होती है। वह लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों दोष-जनित सुखासक्ति अपने आप गलती जाती है। जिस काल में सर्वांश में दोष-जनित सुखासक्ति मिट जाती है उसी काल में जाने हुए दोषों का त्याग और निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक साधक व्यक्तिगत रूप से सत्संग करके निर्दोषता से अभिन्न हो सकता है।

व्यक्तिगत रूप से किया हुआ सत्संग साधक को स्वाधीनता पूर्वक सिद्धि देने में समर्थ होता है, क्योंकि इस विधि में साधक को केवल अपने ही जाने हुए असत् का त्याग करना है। व्यक्तिगत सत्संग द्वारा निर्मित साधन के प्रति साधक सर्वदा निस्सन्देह रहता है, क्योंकि निज ज्ञान में सन्देह हो ही नहीं सकता। इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान में

भले ही किसी को सन्देह हो, क्योंकि वह अल्प-ज्ञान है; किन्तु निज ज्ञान में तो सन्देह हो ही नहीं सकता। यह नियम है कि निस्सन्देहता आत्मीयता प्रदान करती है। आत्मीयता प्रीति की प्रतीक है। प्रीति दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देती। अतः निज ज्ञान में प्रियता स्वाभाविक है। इस दृष्टि से व्यक्तिगत सत्संग बड़े ही महत्त्व की वस्तु है।

अपने जाने हुए असत् के त्याग का जो संकल्प है उसमें साधक को कभी विकल्प नहीं करना चाहिए। विकल्प-रहित संकल्प स्वतः दृढ़ हो जाता है, जिसके होते ही संकल्प के अनुरूप साधक का जीवन हो जाता है। भूतकाल की दोष-जनित स्मृतियाँ वर्तमान की निर्दोषता में सन्देह उत्पन्न करती हैं। किन्तु जिसने जाने हुए असत् के त्याग का दृढ़ संकल्प कर लिया है उसे कभी भी दोष-जनित स्मृतियों से सहयोग नहीं करना चाहिए और न उनसे तादात्म्य ही स्वीकार करना उचित है, अपितु सर्वथा असहयोग ही करना है। असहयोग द्वेष नहीं है, अपितु सम्बन्ध-विच्छेद है। यह नियम है कि जिन स्मृतियों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है वे स्मृतियाँ कालान्तर में स्वतः मिट जाती हैं। स्मृतियों का सद्भाव तथा सहयोग ही उन्हें जीवित रखता है। स्मृतियों की असत्यता स्वीकार करते ही वे निर्जीव हो जाती हैं और असहयोग करते ही मिट जाती हैं। अतः वर्तमान की निर्दोषता सुरक्षित रखने के लिए भूतकाल की दोषजनित स्मृतियों का स्वरूप से अभाव स्वीकार करना अनिवार्य है।

यदि साधक व्यक्तिगत सत्संग के द्वारा वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित न रख सके अथवा जाने हुए दोषों का त्याग न कर सके तो उसे अपने जाने हुए असत् का त्याग करने के लिए परस्पर विचार-विनिमय द्वारा सत्संग करना चाहिए। जिस प्रकार दो दीपक एक दूसरे का अन्धकार मिटाने में

सहायक होते हैं उसी प्रकार परस्पर विचार-विनिमय द्वारा अपने-अपने जाने हुए असत् का त्याग करने में साधक समर्थ होते हैं।

विचार-विनिमय करते समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाय कि अपने जाने हुए दोषों के सम्बन्ध में ही विचार करना है। विचार-विनिमय के नाम पर पर-चर्चा नहीं करनी है। सत्संग अपने सन्देह मिटाने का साधन है, और कुछ नहीं। निस्सन्देहता के बिना दृढ़ता नहीं आती और दृढ़ता के बिना जीवन और साधन में एकता नहीं होती। इस कारण सन्देह-रहित होना अनिवार्य है। विचार-विनिमय करने का अर्थ उपदेष्टा होना नहीं है, अपितु अपनी निर्बलताओं को प्रकाशित करना है। यह नियम है कि जो निर्बलताएँ स्पष्ट रूप से जानने में आ जाती हैं और जिनके प्रकाशित करने में साधक को संकोच नहीं होता उन निर्बलताओं से तादात्म्य नहीं रहता। जिससे तादात्म्य नहीं रहता उसका नाश बड़ी सुगमतांपूर्वक हो जाता है, क्योंकि निर्बलता का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। निर्बलता जिसमें होती है उसी से सत्ता पाकर उसी पर शासन करने लगती है। जब साधक अपनी निर्बलताओं से असहयोग करने लगता है तब निर्बलताएँ अपने आप मिटने लगती हैं। इस दृष्टि से अपनी निर्बलताओं को प्रकाशित करना और उनको मिटाने के लिए परस्पर विचार-विनिमय द्वारा सत्संग करना बड़ा ही सुगम साधन है। निर्बलताओं को प्रकाशित करते समय यह भी ध्यान रहे कि जिस निर्बलता की चर्चा की जा रही है वह निर्बलता भूतकाल की है, वर्तमान की नहीं। अपनी निर्बलताओं का स्पष्ट ज्ञान तभी होता है जब निर्बलताओं से छुटकारा पाने की तीव्र लालसा जाग्रत हो जाती है। निर्बलताओं को मिटाने का दृढ़ संकल्प सभी निर्बलताओं का अन्त करने में साधन रूप

है। इस दृष्टि से अपनी-अपनी निर्बलताओं को परस्पर में साधन बुद्धि से प्रकाशित करना अनिवार्य है। परन्तु भूतकाल की निर्बलताओं के आधार पर अपने को वर्तमान में निर्बल स्वीकार करना असाधन है, क्योंकि साधक को निर्दोषता की उपासना करना है, दोषों की नहीं। अतः परस्पर विचार-विनिमय द्वारा जाने हुए दोषों का त्याग कर निर्दोषता से अभिन्न होना ही वास्तव में सत्संग है।

परस्पर विचार-विनिमय करने पर भी यदि साधक अपने जाने हुए असत् के त्याग में समर्थ न हो तब उसे अपनी असमर्थता का अन्त करने के लिए सत् की लालसा को सबल तथा स्थायी करना अनिवार्य है। लालसा को सबल तथा स्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि थोड़ी-थोड़ी देर बाद हृदय में लालसा की पुनरावृत्ति व्याकुलता पूर्वक होती रहे। सत् की लालसा असत् की कामनाओं को खा लेती है। असत् की कामनाओं के नाश में ही सत् की लालसा की पूर्ति निहित है। इस दृष्टि से सत् की लालसा का जाग्रत होना भी जाने हुए असत् के त्याग में साधन-रूप है। असत् की कामना ही असत् को जीवित रखती है। असत् की कामनाओं की निवृत्ति सत् की तीव्र जिज्ञासा की जागृति से ही सम्भव है, क्योंकि सत् की लालसा सत् से भी कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है। कारण कि सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं; किन्तु सत् की लालसा असत् को खाकर सत् से अभिन्न करने में समर्थ है। अतः सत् की लालसा की पुनरावृत्ति साधक में असत् के त्याग की सामर्थ्य प्रदान करती है। इस रहस्य को जान लेने पर साधक बड़ी ही सुगमता पूर्वक सत् की लालसा को सबल तथा स्थायी करके जाने हुए असत् के त्याग में समर्थ होता है। इस दृष्टि से सत् की लालसा के द्वारा भी सत्संग हो सकता है।

लालसा और कामना में एक बड़ा भेद यह है कि कामना उन वस्तुओं की होती है जिनसे नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है क्योंकि कोई भी वस्तु ऐसी नहीं हैं जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त न हो और लालसा उसी की होती है जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, केवल उसकी विस्मृति हो गई है। इसी कारण लालसा कामनाओं को खाकर साधक को उससे अभिन्न कर देती है, जो सर्वदा सभी को स्वतः प्राप्त है। प्राप्त की प्रीति उसकी विस्मृति को सदा के लिए खा लेती है। अतः अनन्त की लालसा साधक को अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है।

यदि साधक अपने द्वारा अपने जाने हुए असत् के त्याग में अपने को समर्थ न पाता हो और उसे किसी के सहयोग की अपेक्षा प्रतीत होती हो तो ऐसी स्थिति में उसे किसी ऐसे सत्पुरुष, जिसमें उसे अपने ज्ञान से किसी दोष का दर्शन न होता हो और स्वभाव से ही उनकी आज्ञा-पालन में रुचि हो तथा जिनके सम्पर्क में रहने से अपने को शान्ति की अनुभूति होती हो, के परामर्श से अपने जाने हुए असत् का त्याग करने का प्रयास करना चाहिए। पर इस बात का ध्यान रहे कि मेरा सम्पर्क केवल अपने साधन-निर्माण के लिए ही है। वे कैसे हैं, कितना जानते हैं, क्या करते हैं-इन सब बातों पर यदि साधक ध्यान देगा तो वह अपने साधन-निर्माण की बात को भूल जायेगा। जिस प्रकार रोगी वैद्य के पास जाकर अपने रोग-निवारण की ही चर्चा करता है उसी प्रकार साधक सत्पुरुष के पास जाकर अपनी समस्याओं के हल करने के सम्बन्ध में ही चर्चा करता है।जो साधक सत्पुरुषों के सम्पर्क में जाकर भी पर-चर्चा में लग जाता है, उस बेचारे साधक को अपनी समस्या हल करने का अवकाश ही नहीं मिलता और सत्पुरुष का सम्पर्क उसके लिए उतना हितकर नहीं सिद्ध होता है जितना हो सकता था। यद्यपि सत्पुरुष का

सम्पर्क निरर्थक नहीं जाता, परन्तु पूरा-पूरा लाभ उन्हीं साधकों को होता है जो केवल साधन-निर्माण मात्र के लिए ही सत्पुरुषों के सम्पर्क में रहते है। साधन-निर्माण ही साधक का सर्वस्व है, जो जाने हुए असत् के त्याग से ही सम्भव है। अतः सत्पुरुष के सम्पर्क में रहकर भी अपने जाने हुए असत् के त्याग द्वारा सत् का संग करना अनिवार्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि हमें तो कोई ऐसा सत्पुरुष ही नहीं मिलता जिस पर हमारी स्वाभाविक श्रद्धा हो। ऐसी परिस्थिति में साधक को सद्ग्रंथों का आश्रय लेना चाहिए। पर यह बात बड़ी ही सावधानी से ध्यान में रखनी चाहिये कि जिस सद्ग्रंथ में उसकी श्रद्धा है उसमें अपनी समस्या हल करने के उपाय की ही खोज करे, सारा ग्रंथ समझने का प्रयास न करे, क्योंकि जाने हुए असत् का त्याग किये बिना कोई भी साधक किसी भी सद्ग्रंथ को सर्वांश में नहीं जान सकता। सद्ग्रंथ भले ही सूर्य के समान हो, किन्तु सूर्य का प्रकाश नेत्र-विहीन के काम नहीं आता। उसी प्रकार जब तक साधक अपने जाने हुए असत् का त्याग नहीं कर देता तब तक वह दृष्टि प्राप्त ही नहीं होती जिसका सद्ग्रन्थों में प्रकाश है। सद्ग्रन्थ औषधालय के समान हैं और प्रत्येक साधक रोगी के समान है। प्रत्येक औषधि किसी-न-किसी रोगी के लिए हितकर है। उसी प्रकार प्रत्येक साधन किसी-न-किसी साधक के लिए उपयोगी है, किन्तु सभी साधन सभी साधकों के लिए उपयोगी नहीं होते। इसी कारण प्रत्येक साधक को सद्ग्रन्थों में से अपने उपयोगी साधन को अपनाकर जाने हुए असत् का त्याग करना है। असत् के त्याग में समस्त विकास निहित हैं। इस दृष्टि से सत्संग सर्वोत्कृष्ट साधन है।

सत् किसी को अप्राप्त नहीं है। असत् की कामनाओं के कारण नित्य प्राप्त सत् अप्राप्त जैसा प्रतीत होता है। असत्

की कामनाएँ अविवेक-सिद्ध हैं। जो वस्तु अविवेक- सिद्ध है उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व हो ही नहीं सकता। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता उसकी निवृत्ति अनिवार्य है। इसी कारण कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। सत् स्वरूप से, सत् के जिज्ञासु में भी ज्यों-का-त्यों भरपूर है और सत् का जिज्ञासु भी सत् में ही है अर्थात् सत् की सीमा के बाहर कुछ नहीं है। इस दृष्टि से सत् के जिज्ञासु को, जहाँ है वहीं सत् से अभिन्न होना है।

सत् से अभिन्न होने के लिए किसी श्रम की अपेक्षा नहीं है और न आलस्य तथा अकर्मण्यता से ही सत् की उपलब्धि होती है। जिस काल में सत् की जिज्ञासा असत् की कामनाओं को खा लेती है, उसी काल में सत् का जिज्ञासु सत् की प्रियता होकर सत् से अभिन्न हो जाता है। कारण कि प्रियता दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देती। सत् की प्रियता असत् के त्याग में निहित है। त्याग कोई अभ्यास नहीं है, अपितु असत् को असत् जानकार उससे असहयोग करना ही त्याग है। त्याग हो जाने पर त्याग का भास नहीं रहता, क्योंकि त्याग की स्मृति अथवा उसका अस्तित्व तभी तक प्रतीत होता है जब तक त्याग होता नहीं। त्याग होते ही त्याग का त्याग स्वतः हो जाता है और फिर किसी प्रकार का श्रम शेष नहीं रहता। श्रम-रहित होते ही चिर-विश्राम की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, जो वास्तव में मूक-सत्संग है।

मूक-सत्संग सभी साधनों की भूमि है और सभी साधन मूक-सत्संग में ही विलीन होते हैं, अथवा यों कहो कि समस्त साधनों का उद्गम और लय मूक-सत्संग ही में है। क्योंकि कुछ न करने से ही करने का आरम्भ होता है और सब कुछ करने पर भी अन्त में कुछ न करना ही शेष रहता है, जिस प्रकार मौन से ही बोलना होता है और बोलने पर भी

मौन ही होता है। इतना ही नहीं, प्राकृतिक नियमानुसार समस्त गति स्थिरता से ही उत्पन्न होती है और अन्त में उसी में लय होती है। इस दृष्टि से श्रम से पूर्व जो स्थिति है श्रम के अन्त में भी वही है। आदि और अन्त में जो है वही नित्य है। अतः मूक होते ही असत् का त्याग और सत् का संग बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो जाता है।

अब प्रश्न यह होता है कि मूक होने का उपाय क्या है? मूक होने के लिए वर्तमान कर्त्तव्य कर्म को विधिवत् करना अनिवार्य है, क्योंकि आवश्यक कार्य को किए बिना किसी को भी विश्राम नहीं मिल सकता। यह नियम है कि आवश्यक कार्य करने के लिए अनावश्यक कार्य का त्याग अनिवार्य हो जाता है। विधिवत् कार्य वही कर सकता है जो प्राप्त परिस्थिति के अनुसार फलासक्ति से रहित कार्य करता है। फलासक्ति का त्याग किए बिना कार्य के अन्त में विश्राम मिल ही नहीं सकता और फलासक्ति से रहित कार्य करने पर कार्य के अन्त में कर्त्ता स्वयं श्रम-रहित हो जाता है अथवा यों कहो कि प्रत्येक कर्त्ता कार्य के अन्त में उसी से अभिन्न हो जाता है, जिसके नाते कार्य का आरम्भ किया था। कर्त्ता कार्य होकर अपने उद्देश्य की पूर्ति में विलीन हो जाता है। कार्य कर्त्ता का चित्र है और उद्देश्य कर्त्ता का जीवन है। वर्तमान कर्त्तव्य कर्म सभी दार्शनिकों के लिए एक है, क्योंकि कर्त्तव्य का सम्बन्ध परिस्थिति से है और दर्शन का सम्बन्ध भावना तथा उद्देश्य से है। अतः प्रत्येक साधक को वर्तमान कर्त्तव्य कर्म तो परिस्थिति के अनुसार विधिवत् ही करना है। परिस्थिति-भेद से कर्त्तव्य कर्म में भले ही भेद हो, किन्तु फलासक्ति से रहित विवेक के अनुरूप ही कर्म करना है। प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वतः विश्राम प्राप्त होता है, किन्तु अनावश्यक कार्य का चिंन्तन विश्राम को सुरक्षित नहीं रहने देता। इस कारण मूक-सत्संग

सिद्ध नहीं होता। कार्य के अन्त में यदि कार्य का चिन्तन न रहे तो अपने आप श्रम-रहित होकर मूक-सत्संग हो जाता है। मूक-सत्संग अभ्यास नहीं है, अपितु चिर-विश्राम है, जिसकी माँग स्वभाव से ही प्रत्येक साधक को है। माँग उसी की होती है जिसके बिना साधक किसी भी प्रकार न रह सके। इस दृष्टि से विश्राम तथा मूक-सत्संग बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं जो अनावश्यक कार्य का त्याग कर आवश्यक कार्य करने में तत्पर रहते हैं।

भौतिकवाद की दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता का, अध्यात्मवाद की दृष्टि से विवेकपूर्वक असंगता का और आस्तिकवाद की दृष्टि से समर्पण का परिणाम मूक-सत्संग है। कर्त्तव्यपरायणता, असंगता, समर्पण से मूक-सत्संग स्वतः हो जाता है। कर्त्तव्य-परायणता समस्त विश्व के साथ एकता का बोध कराने में, असंगता निर्वासनापूर्वक भेद नाश करने में और समर्पण प्रीति होकर अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। एकता, अभेदता और अभिन्नता सभी को स्वभाव से ही अभीष्ट हैं, क्योंकि इन्हीं में सत् का संग तथा असत् का त्याग निहित है। एकता शान्ति रस, अभेदता अखण्ड रस और अभिन्नता अनन्त रस की प्रतीक है। मूक-सत्संग का आरम्भ शांत रस से और अन्त अनन्त रस में होता है। रस नीरसता को खाकर साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न कर देता है। नीरसता का अन्त होते ही समस्त विकार स्वतः मिट जाते हैं, क्योंकि नीरसता ही सभी विकारों की जननी है। नीरसता असमर्थता से उत्पन्न होती है।

असमर्थता केवल विश्राम न मिलने से ही उत्पन्न हो गयी है। इस दृष्टि से निर्विकार होने के लिए असमर्थता का नाश करना अनिवार्य है, जो मूक-सत्संग से सुलभ है। मूक-सत्संग स्वतः सिद्ध साधन है। जो स्वतः सिद्ध है उससे

अभिन्न होने के लिए साधक को सभी अस्वाभाविकताओं का त्याग करना होगा। प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में विश्राम स्वाभाविक है। विश्राम अभ्यास नहीं है, किसी का चिन्तन तथा ध्यान भी नहीं है, अपितु विश्राम से ही सार्थक चिन्तन उत्पन्न होकर अचिन्तता में विलीन होता है। विश्राम में से ही प्रीति उदय होकर अपने प्रीतम से अभिन्न होती है। विश्राम से ही विचार का उदय होता है, जो अविचार को खाकर स्वतः साधक को तत्त्व से अभेद कर देता है।

विश्राम को सुरक्षित रखने के लिए करने का राग और पाने का प्रलोभन, जीने की आशा और मरने के भय का सदा के लिए अन्त करना अनिवार्य है, क्योंकि विश्राम असत् की निवृत्ति एवं सत् की प्राप्ति में समर्थ है। विश्राम के लिए सभी का त्याग करना है, किन्तु विश्राम का त्याग किसी वस्तु, व्यक्ति आदि के लिए नहीं करना है, क्योंकि विश्राम शक्ति, मुक्ति एवं भक्ति का प्रतीक है।

विश्राम-काल में विश्राम पाने का जो प्रयत्न है वही विश्राम में विघ्न है। विश्राम के लिए समस्त जीवन को साधन बनाना होगा। अकर्त्तव्य, देहाभिमान और अहम्-भाव का रहना ही विश्राम में बाधक है। अकर्त्तव्य कर्त्तव्यपरायणता से, देहाभिमान विवेकपूर्वक असंगता से एवं अहम्-भाव समर्पण से ही मिट सकता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति से ही मूक-सत्संग सिद्ध हो सकता है।

प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में मूक-सत्संग आवश्यक है। यदि शान्त होते समय मन में उथल-पुथल मचे तो उससे साधक को भयभीत नहीं होना चाहिए, अपितु उससे असहयोग करना चाहिए। अनुकूल चिन्तन से सुख नहीं लेना है और प्रतिकूल चिन्तन से भयभीत नहीं होना है। सुख लेने से चिन्तन की पुनरावृत्ति होती रहेगी और भयभीत

होने से चिन्तन को दबाने का प्रयत्न आरम्भ हो जाएगा। यह नियम है कि दबा हुआ चिन्तन बार-बार होता रहता है, जो विश्राम में बाधक है। प्रत्येक चिन्तन कर्त्ता की तद्रूपता से ही जीवित रहता है। यदि चिन्तन से तादात्म्य न किया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चिन्तन अपने आप मिट जाता है। अतः विश्राम काल में होने वाले चिन्तन को सहयोग नहीं देना है और न उससे तद्रूप रहना है। वह बना रहे अथवा मिट जाय, इस भावना का भी नाश कर देना है, तभी व्यर्थ चिन्तन का अन्त होगा, जो विश्राम को सुरक्षित रखने में हेतु है। विश्राम-काल में जो चिन्तन होता है वह सुने हुए, जाने हुए, माने हुए एवं भुक्त-अभुक्त कामनाओं का प्रभाव अर्थात् स्मृति मात्र है। विश्राम-काल में ही उसका स्पष्ट बोध होता है। पर बेचारा साधक यह मान कर कि मुझमें बड़े ही दोष हैं उस चिन्तन को सजीव बना देता है और फिर स्वयं उसमें आबद्ध होकर अपने को उसके मिटाने में असमर्थ मान लेता है।

यह नियम है कि जिस चिन्तन के प्रति कर्तृत्व का भाव नहीं रहता वह चिन्तन प्रकट होकर अपने आप मिट जाता है, क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार अचिन्तता के लिए ही चिन्तन प्रकट होता है। पर इस रहस्य को कोई बिरले ही जानते हैं। आस्तिक दृष्टिकोण से अनन्त की अहैतुकी कृपा प्रकट हुए चिन्तन को स्वतः मिटा रही है। इस भावना के दृढ़ होते ही साधक के हृदय में एक अद्भुत उत्साह तथा सरसता जाग्रत होती है, जिससे नीरसता मिट जाती है। उसके मिटते ही व्यर्थ चिन्तन स्वतः नाश हो जाता है।

अध्यात्म दृष्टि से उत्पन्न हुआ चिन्तन इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का प्रभाव है, और कुछ नहीं। उससे तादात्म्य भाव अस्वीकार करते ही वह निर्जीव हो जाता है। भौतिक दृष्टि से व्यर्थ चिन्तन भोगे हुए सुख-दुःख का प्रभाव है, और कुछ नहीं।

फलासक्ति-रहित कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही वह अपने आप मिट जाता है।

सुख-दुःख में सद्भाव होने से उसमें जीवन-बुद्धि हो जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि सुख-दुःख के भोग का प्रभाव साधक के अहम्-भाव में अंकित हो जाता है। जब साधक अहम्-भाव को मिटाने का अथवा उसको शुद्ध करने का प्रयास करता है तब वह दबा हुआ प्रभाव प्रकट होता है। यदि साधक उस प्रभाव से भयभीत न हो तो वह प्रभाव अपने आप निर्जीव हो जाता है। चिन्तन का प्रकट होना अहम् की शुद्धि तथा उसके मिटाने की तैयारी की सूचना मात्र है। क्योंकि सुख-दुःख के उपयोग में ही साधन का निर्माण है और उसके भोग में ही असाधन की उत्पत्ति है। मूक-सत्संग अहम् की शुद्धि तथा उसके गलाने का सर्वोत्कृष्ट उपाय है, क्योंकि किसी-न-किसी प्रयत्न के आधार पर ही बेचारा अहम्-भाव जीवन पाता है। मूक- सत्संग आरम्भ होते ही समस्त प्रयत्न शान्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से मूक-सत्संग के बिना अहम्-भाव का अन्त हो ही नहीं सकता। अतः प्रत्येक साधक को सब कुछ करने पर भी मूक-सत्संग को अपना लेना अनिवार्य है, क्योंकि बिना उसके अपनाए अचाह, अप्रयत्न एवं अभिन्नता सम्भव नहीं है, जो साधन-तत्त्व से अभिन्न करने में समर्थ है।

उपर्युक्त भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रत्येक साधक को अपनी रुचि, योग्यता एवं परिस्थिति के अनुसार जाने हुए असत् का त्याग कर सत् का संग करना अनिवार्य है, क्योंकि उसके बिना साधन का निर्माण तथा असाधन की निवृत्ति सम्भव नहीं है। सत्संग के लिए प्रत्येक साधक को सर्वदा उद्यत रहना परम आवश्यक है, क्योंकि सत्संग ही एकमात्र वह उपाय है जिससे सभी निर्बलताएँ स्वतः मिट जाती हैं। सत्संग के

समान और कोई महत्त्वपूर्ण साधन नहीं है, क्योंकि सत्संग में ही समस्त साधन निहित हैं। अतः असत् के त्याग और सत् के संग के लिए अपना सर्वस्व निछावर करना प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक है।

(26) सत्संग की आवश्यकता

सत् की जिज्ञासा और असत् की कामनाओं का पुंज ही अहम्-भाव है। जब तक साधक कामना-पूर्ति के प्रलोभन में आबद्ध रहता है तब तक सत् की जिज्ञासा सर्वांश में जाग्रत नहीं होती। जिज्ञासा-जागृति के बिना न तो कामनाओं का नाश ही होता है और न जिज्ञासा की पूर्ति ही, क्योंकि कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन साधक को देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता में आबद्ध कर देता है। इसी कारण कामना-पूर्ति का कार्यक्रम सदैव भविष्य की आशा पर निर्भर रहता है। यद्यपि वर्तमान की उपयोगिता से ही भविष्य उज्ज्वल होता है, परन्तु साधक असावधानी के कारण वर्तमान का सदुपयोग न करके भविष्य के व्यर्थ चिन्तन में लगा रहता है, जो उसमें सार्थक चिन्तन को उदित नहीं होने देता। सार्थक चिन्तन के बिना व्यर्थ चिन्तन का नाश सम्भव नहीं है और व्यर्थ चिन्तन का नाश हुए बिना कोई भी साधक वर्तमान का सर्वांश में सदुपयोग नहीं कर सकता, जिसके किए बिना न तो प्राप्त परिस्थिति से असंगता ही प्राप्त होती है, न साधक अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से ही रहित होता है और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में ही उसका प्रवेश होता है। परिस्थितियों के आश्रय के आधार पर ही अहम्-भाव जीवित है। अहम्-भाव के रहते हुए भेद का अन्त किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। उसके हुए

बिना साधक साधन-तत्त्व से अभिन्न हो ही नहीं सकता। यह निर्विवाद सत्य है।

कामना-पूर्ति के सुख ने कामना-अपूर्ति के दुःख को जन्म दिया है और कामना-अपूर्ति के दुःख ने बेचारे प्राणी में सुख की दासता उत्पन्न कर दी है। इस दृष्टि से दुःख का भय तथा सुख की दासता ही अहम्-भाव को पुष्ट करती है। जिज्ञासा की जागृति सुख की दासता और दुःख के भय को सदा के लिए खा लेती है और फिर स्वयं जिसकी जिज्ञासा है उससे अभिन्न हो जाती है। जिज्ञासा से भिन्न जिज्ञासु का और कामनाओं से भिन्न कामी का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व किसी ने अनुभव नहीं किया। इतना ही नहीं, कामना-काल में जिज्ञासु भाव और जिज्ञासा काल में कामी भाव की प्रतीति भी नहीं होती, अपितु जिज्ञासा-काल में जो जिज्ञासु है वही कामनाओं के रहते हुए कामी है। किसी एक में ही कामी-भाव तथा जिज्ञासु-भाव का आरोप है। जिसमें आरोप है उसका अस्तित्व क्या है? इसकी खोज करने के लिए ही सत्संग की आवश्यकता है। प्रत्येक कामना की उत्पत्ति से पूर्व और पूर्ति के अन्त में जो जीवन है, क्या उस जीवन में कामी तथा जिज्ञासु-भाव है? कामना-उत्पत्ति से पूर्व किसी का भी क्या किसी वस्तु से सम्बन्ध रहता है? यदि रहता है तो किससे? क्या कोई ऐसी कामना हो सकती है कि जिसकी उत्पत्ति किसी वस्तु तथा स्वीकृति से तादात्म्य भाव स्वीकार किए बिना होती हो? कदापि नहीं। और कामना-उत्पत्ति के बिना क्या जिज्ञासा की आवश्यकता होती है? यदि नहीं होती तो क्या यह स्पष्ट सिद्ध नहीं हो जाता है कि कामी-भाव स्वीकार करने पर ही जिज्ञासु होना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से जिसमें जिज्ञासा तथा कामना उत्पन्न होती है उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पर यह रहस्य तभी खुलता है जब कामनाओं का अन्त कर जिज्ञासा की पूर्ति हो जाए।

कामना-उत्पत्ति से पूर्व जो जीवन है उसकी वास्तविकता का अनुभव तभी हो सकता है जब साधक कामना-अपूर्ति के दुःख, पूर्ति के सुख तथा निवृत्ति की शान्ति से असंग हो जाए।

सुख का प्रलोभन ही दुःख के भय को जन्म देता है। प्रलोभन तथा भय के आधार पर ही बेचारा अहम् जीवित है। यदि साधक असत् का त्याग कर सत् के संग द्वारा सुख के प्रलोभन से रहित हो जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक दुःख का भय अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही स्वतः शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु उसमें रमण नहीं करना है, क्योंकि शान्ति के रमण में भी अहम्-भाव पुष्ट हो सकता है। सुख-दुःख की अपेक्षा शान्ति भले ही महत्त्व की वस्तु हो, किन्तु वास्तविक जीवन की उपलब्धि के लिए तो साधक का शान्ति में निवास वास्तव में विघ्न ही है। शान्ति में निवास न करने पर भी शान्ति का सुरक्षित रहना अनिवार्य है, क्योंकि वही सामर्थ्य और स्वाधीनता की प्रतीक है। इस दृष्टि से कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा-पूर्ति के लिए सत्संग अनिवार्य है।

(27) अहम् का नाश तथा साधन-तत्त्व

अहम्-भाव के नाश होने पर ही साधक साधन-तत्त्व से अभिन्न हो सकता है, क्योंकि समस्त भेद अहम् से ही उत्पन्न होते हैं, जिनके उत्पन्न होते ही काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सभी विकार साधक के जीवन में अपने आप आ जाते हैं। इस दृष्टि से समस्त विकारों का मूल भी अहम् ही है। अहम्-रूपी बीज में ही विकार-रूपी वृक्ष विद्यमान है। प्राकृतिक नियमानुसार बीज के नाश में ही वृक्ष का नाश निहित है। अतः प्रत्येक साधक को निर्विकार जीवन के लिए

अहम् का अन्त करना अनिवार्य है। प्रत्येक साधक अहम् का अन्त करने में सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है, क्योंकि पराधीनता तथा असमर्थता उसी के लिए होती है जिसके लिए किसी अप्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता आदि की अपेक्षा हो। अहम् का अन्त करने के लिए किसी भी वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता की अपेक्षा नहीं है, अपितु सभी से विमुख होना है। वस्तु आदि से विमुख होते ही अहम् अपने आप मिटने लगता है, क्योंकि जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है वह निराश्रय होते ही मिट जाता है। वस्तु, व्यक्ति आदि के आश्रय से ही बेचारा अहम् जीवित है। वस्तुओं के सदुपयोग से वस्तुओं का आश्रय और व्यक्तियों की सेवा से व्यक्तियों का सम्बन्ध शेष नहीं रहता, जिसके न रहने पर अहम् अपने आप मिट जाता है।

व्यक्तियों की सेवा में ही वस्तुओं का सदुपयोग निहित है। व्यक्तियों की सेवा वही साधक कर सकता है जो किसी का अनादर नहीं करता, किसी का बुरा नहीं चाहता और न किसी की हानि ही जिसे अभीष्ट है। जो किसी का अनादर नहीं करता उसके सभी अशुद्ध संकल्प नाश हो जाते हैं। अशुद्ध संकल्पों के नाश में ही शुद्ध संकल्पों की पूर्ति निहित है। जो किसी का बुरा नहीं चाहता वह दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न हो जाता है। करुणा सुख-भोग की रुचि को और प्रसन्नता नीरसता को खा लेती है। जो किसी को हानि नहीं पहुँचाता उसमें वस्तुओं की दासता नहीं रहती, जिसके मिटते ही निर्लोभता आ जाती है, जो दरिद्रताका अन्त करने में समर्थ है।

प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग द्वारा जब साधक व्यक्तियों की यथेष्ट सेवा करने लगता है और उसके बदले में किसी प्रकार के सुख की आशा नहीं रखता, यहाँ तक कि सेवक

कहलाने की भी जिसमें कामना नहीं है, तब उसका किसी वस्तु से तथा व्यक्ति से सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि जो कुछ भी चाहता है उसी का वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध रहता है, जिसके रहते हुए न तो निर्विकारता ही प्राप्त होती है और न अहम् का ही नाश होता है। विकारों के रहते हुए पराधीनता का नाश सम्भव नहीं है। पराधीनता का नाश हुए बिना जड़ता का अभाव हो नहीं सकता। उसके हुए बिना चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं होती। अहम् का नाश हुए बिना भेद का नाश नहीं होता और उसके हुए बिना अनन्त के प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। अतः वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य है।

सम्बन्ध-विच्छेद से किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की क्षति नहीं होती और न प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा में ही बाधा होती है। इतना ही नहीं, मंगलमय विधान के अनुसार प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग में ही आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि और व्यक्तियों की सेवा में ही सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति निहित है। सम्बन्ध-विच्छेद बिना किए न तो प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग ही सम्भव है और न व्यक्तियों की सेवा। किसी भी वस्तु ने कभी किसी को अपना नहीं कहा, साधक भले ही उन्हें अपना माने। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु को अपना मानना उसको अपना मानना है, जो वास्तव में अपना नहीं है। व्यक्तियों को अपने अधिकार की रक्षा भले ही अभीष्ट हो, किन्तु जो अधिकार का अपहरण करता है अथवा रक्षा नहीं करता और केवल अपना अधिकार ही माँगता है उसकी आवश्यकता न किसी व्यक्ति को होती है और न समाज को। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिन्हें साधक अपना साथी मानता है वे वास्तव में अपने अधिकार के इच्छुक हैं। अतः उनका अधिकार उन्हें देकर और अपने

अधिकार का त्याग कर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक सभी सम्बन्धियों की ममता से रहित हो सकता है।

जब साधक के जीवन में अधिकार की गंध भी नहीं रहती और सभी के अधिकार देकर उनसे क्षमा माँग लेता है तब उसका जीवन स्वाधीनता तथा प्रेम से पूर्ण हो जाता है, भेद तथा भिन्नता सदा के लिए मिट जाती है। अतः भौतिक दृष्टि से दूसरों के अधिकार की रक्षा तथा अपने अधिकार के त्याग में ही अहम् का नाश निहित है । अपने अधिकार का त्याग प्रेम है और दूसरों के अधिकार की रक्षा न्याय है। न्याय तथा प्रेम से युक्त जीवन अहम् और मम से रहित जीवन है। न्याय से निर्दोषता सुरक्षित रहती है और प्रेम से अगाध, अनन्त, नित-नव रस की वृद्धि होती रहती है।

निज़ विवेक के प्रकाश में अहम् की खोज करने पर भी अहम् का नाश हो जाता है, क्योंकि जिन वस्तुओं की प्रतीति होती है वे वस्तुएँ अहम् नहीं हो सकतीं और जिन साधन-असाधन रूप स्वीकृतियों को स्वीकार किया है वे भी अहम् नहीं हो सकतीं। साधनरूप स्वीकृति कर्त्तव्य की और असाधनरूप स्वीकृति अकर्त्तव्य की प्रतीक हो सकती है,अहम् नहीं। जब किसी भी वस्तु में अहम्-बुद्धि नहीं रहती तब स्वतः निर्दोषता आ जाती है और जब किसी भी स्वीकृति में अहम्-बुद्धि नहीं रहती तब सभी वासनाएँ अपने आप मिट जाती हैं। निर्दोषता तथा निर्वासना आते ही सभी भेद और भिन्नताएँ मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही अहम् जैसी वस्तु शेष नहीं रहती। अतः अहम् की खोज में भी अहम् का नाश निहित है।

जब साधक अपनी असमर्थताओं से पीड़ित होकर अधीर होने लगता है तब स्वभाव से ही उसमें निर्भरता की अभिव्यक्ति होती है। निर्भरता अहम्-भाव को खाकर अनन्त

से अभिन्न कर देती है। असमर्थता की वेदना में सर्व-समर्थ की पुकार स्वतः जाग्रत होती है। साधक भले ही जानबूझ कर उसे न पुकारता हो जो सर्व-समर्थ है अथवा उसके विश्वास में भी उसका अस्तित्व न हो तब भी यह नियम है कि असमर्थता की वेदना में सर्व-समर्थ की पुकार स्वतः रहती ही है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जो असमर्थता के रहते हुए चैन से नहीं रहते। असमर्थता रहते हुए चैन से रहना ही साधक को अनन्त से विमुख कर देता है, जो उसका अपना ही प्रमाद है। जिस असमर्थता में वेदना नहीं है वह असमर्थता निर्जीव है, अर्थात् आंशिक सामर्थ्य का सुख-भोग जीवित है। यद्यपि असमर्थता की अनुभूति सर्व-समर्थ से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कराने में साधन-रूप है, परन्तु आंशिक सामर्थ्य के अपव्यय अर्थात् सुख-दुःख के भोग ने सीमित अहम्-भाव को पुष्ट कर दिया है। सुख-दुःख का सदुपयोग साधन और उनका भोग असाधन है। असाधन का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। सुख-दुःख का सदुपयोग करते ही साधक साधन होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है अथवा यों कहो कि सुख में दुःख का दर्शन करने पर सुख-दुःख का द्वन्द्व स्वतः मिट जाता है, जिसके मिटते ही अहम् शेष नहीं रहता। अहम् के नाश में ही साधक साधन-तत्त्व से अभिन्न होता है और साधन-तत्त्व से अभिन्न होने ही में अहम् का नाश निहित है।

कर्त्तव्यपरायणता, अहम् की खोज तथा सर्व-समर्थ की शरणागति अहम् के नाश में हेतु हैं। जगत् की सत्ता स्वीकार करने पर कर्त्तव्यपरायणता को अपना लेना अनिवार्य है। शरीर विश्व के, व्यक्ति समाज के काम आ जाय, उसका अपना कोई अलग संकल्प न रह जाय, तो बड़ी ही सुगमता-पूर्वक अहम् का नाश हो सकता है, क्योंकि जिसकी अपनी

कोई आवश्यकता नहीं है उसी की सभी को आवश्यकता है। जिसकी सभी को आवश्यकता है उसमें अहम् की गंध भी नहीं रहती, क्योंकि अहम् उसी समय तक जीवित है जब तक उसकी कोई अपनी आवश्यकता है, कारण कि आवश्यकता की शून्यता में ही अहम् का नाश निहित है।

अहम् की खोज किसी बाह्य तथा अन्तःकरण के द्वारा सम्भव नहीं है, क्योंकि करण की अपेक्षा तो केवल कामना-पूर्ति में ही हेतु है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन रहते हुए अहम् की खोज सम्भव नहीं है। अतः अहम् की खोज वही साधक कर सकता है जो कामना-पूर्ति के प्रलोभन से रहित है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन तो प्राणी को वस्तुओं तथा स्वीकृतियों में ही आबद्ध करता है। अहम् की खोज करने के लिए वस्तुओं से असंगता और स्वीकृतियों का त्याग अनिवार्य है, क्योंकि उसके बिना वासनाओं का अन्त सम्भव नहीं है। निर्वासना आते ही अहम् की खोज अहम् को खाकर स्वयं अनन्त से अभिन्न हो जाती है।

अब यह विचार करना है कि अहम् की खोज कब जाग्रत होती है। जब तक साधक इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर जगत् की सत्ता को स्वीकार करता है तब तक अहम् की खोज नहीं कर सकता। अहम् की खोज वही कर सकता है जो अविवेक- सिद्ध जगत् की प्रतीति को विवेकपूर्वक अस्वीकार करता है। आंशिक सामर्थ्य का सद्व्यय करने पर जब साधक में असमर्थता की असह्य वेदना उदित होती है तब सरल विश्वास-पूर्वक सर्व-समर्थ को स्वीकार कर साधक अपने को शरणागत कर अभय हो जाता है। क्योंकि शरणागत के सभी संकल्प तथा विश्वास एवं सम्बन्ध शरण्य के संकल्प, विश्वास एवं सम्बन्ध में विलीन हो जाते हैं, जिसके होते ही स्वतः अहम् नाश होकर शरण्य की प्रीति हो जाता है। यह नियम है

कि प्रीति में सत्ता उसी की होती है जिसकी वह प्रीति है, और प्रीति में ही उसका निवास है जिसकी वह प्रीति है। अतः प्रीति और प्रीतम में लेशमात्र भी भेद तथा भिन्नता नहीं रहती। इस दृष्टि से शरणागति से भी अहम् का नाश तथा साधन-तत्त्व से अभिन्नता हो जाती है।

अहम् का नाश हुए बिना न तो सुन्दर समाज का निर्माण ही हो सकता है और न चिर-शान्ति ही मिल सकती है, अहम् के नाश में ही स्वाधीनता, चिन्मयता एवं अमरत्व [illegible]लब्धि निहित है और अहम् के नाश में ही परम प्रेम [illegible]अभिव्यक्ति हो सकती है, जो प्रत्येक साधक को [illegible]न-तत्त्व से अभिन्न करने में समर्थ है। साधक साधन-तत्त्व [illegible] अभिन्न होकर ही साध्य को रस देने का अधिकारी होता है, जो वास्तविक जीवन है। अतः प्रत्येक साधक के लिए साधन-तत्त्व से अभिन्न होना अनिवार्य है।

जब साधक के जीवन में अधिकार की गंध भी नहीं रहती और सभी के अधिकार देकर उनसे क्षमा माँग लेता है तब उसका जीवन स्वाधीनता तथा प्रेम से पूर्ण हो जाता है, भेद तथा भिन्नता सदा के लिए मिट जाती है। अतः भौतिक दृष्टि से दूसरों के अधिकार की रक्षा तथा अपने अधिकार के त्याग में ही अहम् का नाश निहित है। अपने अधिकार का त्याग प्रेम है और दूसरों के अधिकार की रक्षा न्याय है। न्याय तथा प्रेम से युक्त जीवन अहम् और मम से रहित जीवन है। न्याय से निर्दोषता सुरक्षित रहती है और प्रेम से अगाध, अनन्त, नित-नव रस की वृद्धि होती रहती है।

अहम् का नाश हुए बिना न तो सुन्दर समाज का निर्माण ही हो सकता है और न चिर-शान्ति ही मिल सकती है। अहम् के नाश में ही स्वाधीनता, चिन्मयता एवं अमरत्व की उपलब्धि निहित है और अहम् के नाश में ही परम प्रेम की अभिव्यक्ति हो सकती है, जो प्रत्येक साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न करने में समर्थ है। साधक साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर ही साध्य को रस देने का अधिकारी होता है, जो वास्तविक जीवन है। अतः प्रत्येक साधक के लिए साधन-तत्त्व से अभिन्न होना अनिवार्य है।

इसी पुस्तक से उद्धृत।

मूल्य :

४००० प्रतियाँ

सितम्बर १९९६

Rs 10 00

मुद्रकः राष्ट्रीय प्रेस, चौकी बाग बहादुर, मथुरा ✆ 406812